ऋषभ चरित

—: लेखक :—

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामल जी शास्त्री

(आचार्य ज्ञानसागर जी)

प्रेरक प्रसंग प पू आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु श्री गम्भीर सागरजी, क्षु श्री धैर्य सागरजी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियाँ, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

ट्रस्ट संस्थापक : स्व पं जुगल किशोर मुख्तार

ग्रन्थमाला सम्पादक डॉ दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना
एवं नियामक : (मध्य प्रदेश)

संस्करण : द्वितीय

प्रति : 2000

मूल्य : स्वाध्याय
(नोट - डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मगा सकते है।

प्राप्ति स्थान :

✻ **सोनी मंन्दिर ट्रस्ट**
सोनीजी की नसियाँ, अजमेर (राज)

✻ **डा शीतलचन्द जैन**
मत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
१३१४ अजायब घर का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर

✻ **श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र**
मन्दिर संघी जी, सांगानेर जयपुर (राज)

—: आशीर्वाद एवं प्रेरणा :—

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

क्षु श्री गंभीर सागरजी, एव क्षु श्री धैर्य सागरजी महाराज

सौजन्यता :

श्री गुप्त दातार

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,
अजमेर (राज)

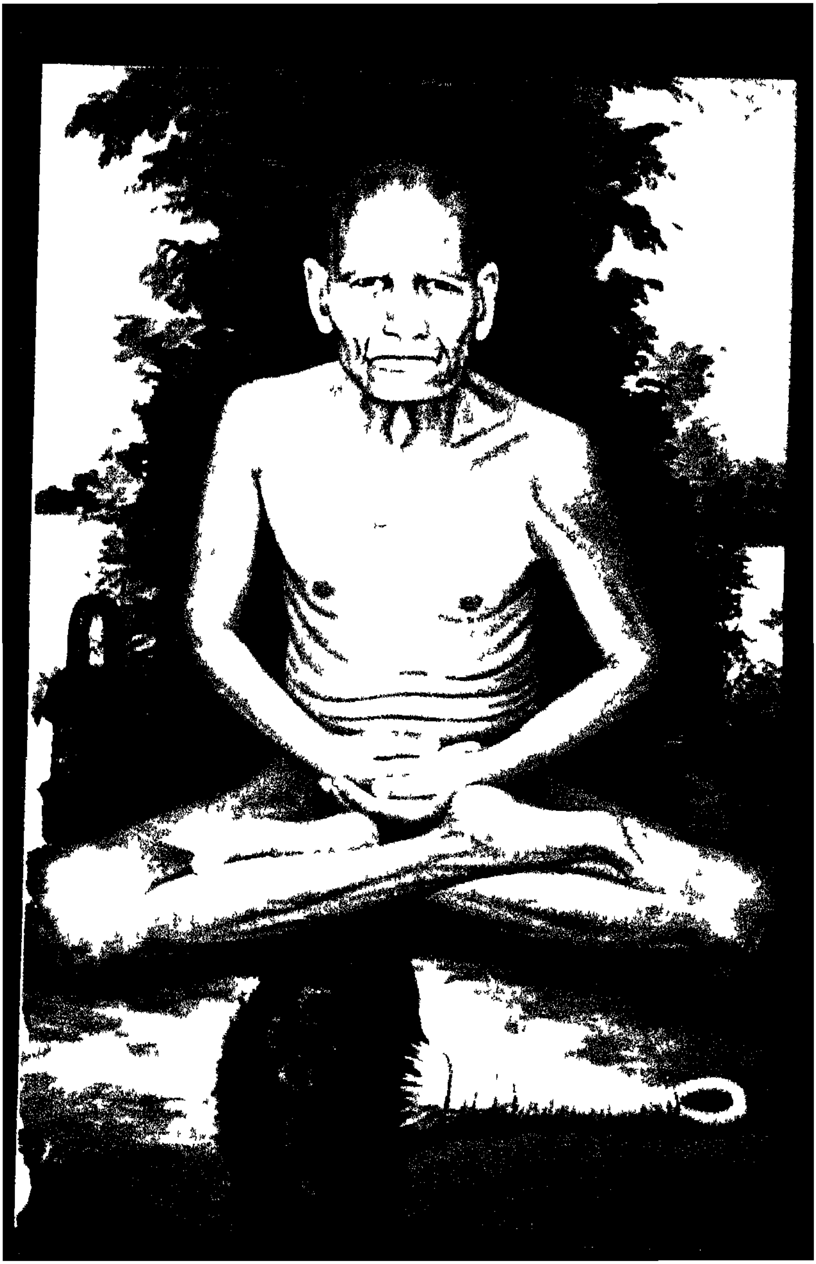
प्रकाशन :

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर

- मुद्रण एव लेजर टाइप सैटिंग :-

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 22291



प्रकाशकीय समर्पण



आ
श्री
वि
द्या
सा
ग
र
जी

卐

मु
श्री
सु
धा
सा
ग
र
जी



पचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, सत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों मे
एव
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एव दार्शनिक सत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलो मे
सकल दि जैन समाज एव दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज) की ओर से
सादर समर्पित ।

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एव अनुसधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं जुगल किशोर जी मुख्तार "युगवीर" ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियो को मूर्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरवासा (सहारनपुर) में "वीर सेवा मदिर" नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम सवत् 1993, दिनाक 24 अप्रैल 1936 में किया था। सन् 1942 मे मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का "वसीयतनामा" लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। "वसीयतनामा" मे उक्त "वीर सेवा मन्दिर" के सचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार प मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमत अग्रसारित किया था।

स्वर्गीय बा छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला राजकृष्ण जी दिल्ली रायसाहब ला उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 मे श्रद्धेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप मे दिल्ली मे, उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला उल्फतराय जी के चैत्यालय में खोला था। पश्चात् बा छोटे लालजी, साहू शान्तिप्रसाद जी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागज दिल्ली मे स्थित है और जिसमे "अनेकान्त" (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवन मे सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गो पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट ग्रथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है । इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मत्री एव वर्तमान में अध्यक्ष डा दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एव लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है । आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन मे ट्रस्ट का सपूर्ण कार्य चल रहा है । अत उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओ से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें। ट्रस्ट के समस्त सदस्य एव कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द सगल एटा, तथा सयुक्त मत्री ला सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है । एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं ।

सत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आर्शीवाद एव प्रेरणा से दिनाक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मदिर सघीजी सागानेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एव कृतित्व परअखिल भारतीय विद्वत सगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस सगोष्ठी मे निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थो का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध सस्था से किया जाय । तदनुसार समस्त विद्वानो की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय । परम हर्ष है कि पूज्य मूनि 108 सुधासागार महाराज का ससघ चातुर्मास अजमेर मे होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनो से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थो के प्रकाशन एव सगोष्ठी का दायित्व स्वय ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया । एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एव ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है ।

प्रस्तुत कृति **ऋषभ चरित** के प्रकाशन मे जिन महानुभाव ने आर्थिक सहयोग एव प्रूफ रिडिग मे श्री कमलकुमारजी बडजात्या ने अथक परिश्रम

किया तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अन्त में उस सस्था के भी आभारी है जिस सस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था । अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है । अत ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है । जैन जयतु शासनम् ।

दिनाङ्क 13-14-15 अक्टूबर 1994
वीरोदय महाकाव्य पर अ भा विद्वत सगोष्ठी

डॉ शीतल चन्द जैन
मानद मत्री
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
1314 अजायब घर का रास्ता
किशनपोल बाजार, जयपुर

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल चन्द्र जैन
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषो एव नर-पुगवो को जन्म दिया है । इन नर-रत्नो ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेकों कीर्तिमान स्थापित किये हैं । जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेको आचार्यों, मुनियो एव सन्तो ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एव आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है ।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शातिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये । मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि स २०१६, मे खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ हो गये थे । आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) मे दिगम्बर जैन के छाबडा कुल मे सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था । आपके बडे भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था । आप स्वय भूरामल के नाम से विख्यात हुये । प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई । साधनो के अभाव मे आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बडे भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये । वहा १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे । लेकिन आपका मन आगे पढने के लिए छटपटा रहा था । सयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह मे भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये । उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमो को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु

वाराणसी जाने के हुए । विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एव दृढता देखकर आपके बडे भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी ।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एव निष्ठावान थे । वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और सस्कृत एव जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास की । जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एवं प्राकृत ग्रन्थो को जैन सिद्धान्तानुसार पढना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी मे समुचित व्यवस्था नहीं थी । आपका मन क्षुब्ध हो उठा,-परिणामत. आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुन-र्जीवित करने का भी दृढ़ सकल्प ही लिया । अढिग विश्वास, निष्ठा एव सकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एव जैनेन्तर विद्वानो से जैन वाँङ्गमय की शिक्षा प्राप्त की । वाराणसी मे रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप प भूरामल जी नाम से विख्यात हुए । वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एव अध्यात्म विषयो के अनेक ग्रन्थो का गहन अध्ययन किया ।

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एव साहित्य लेखन के कार्य मे भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही । आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही सकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा मे, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया । इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एव अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पाडित्य प्राप्त कर लिया । इसी अवधि मे आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनाये सस्कृत तथा हिन्दी भाषा मे प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी मे सस्कृत भाषा के महाकाव्यो की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानो में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । काशी के दिग्गज विद्वानो की प्रतिक्रिया थी "इसकाल मे भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती हैं ।" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम मे ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये । जैन सिद्धान्त के हृदय को आत्मसात

करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थो श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थो का विधिवत् स्वाध्याय किया । "ज्ञान भार क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मत्र को जीवन मे उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए ।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु मे सन् १९४७ मे आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अगीकार किये । ५४ वर्ष की आयु मे आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन मे लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल मे क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए । सन् १९५९ में ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए । और आपको आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ । सघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वत्ता एव सजगता के साथ सम्पन्न किया । रूढिवाद से कोसो दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना मे लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एव लेखन मे व्यतीत होता रहा । फिर राजस्थान प्रान्त मे ही विहार करने निकल गये । उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी व्रती थे, विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री सभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे । मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एव तात्विक वक्ता थे । पथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तो को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगज-किशनगढ, अजमेर तथा ब्यावर भी गये । ब्यावर मे पडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थो एव पुस्तको को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा "जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगो का है" ।

जब सन् १९६७ मे आपका चातुर्मास मदनगज किशनगढ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था । चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एव सरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड- भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया । आचार्य देशभूषण जी की

आँखो ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया । जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एव ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले जावोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा। नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया । इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ-सकल्प को देखते ही रह गये ।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ । योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोडी । इसी बीच उन्होंने अखड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया । ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिमा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कडी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी । इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को । ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ शुक्ला पचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनश्वरी दीक्षा प्रदान की गई और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए । उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का सघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया ।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले । आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनो ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने में । आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे । उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी । गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एव वागमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी ।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ में आपके संघ का चातुर्मास पुन. नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता । कानो सुनी बात तो एक बार झुंठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पडता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एव क्षीण हो चुके थे । साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीड़ा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे । १६-१७ मई १९७२ की बात है - आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा ''विद्यासागर। मेरा अन्त समीप है । मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी । आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे । वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एव वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ और ही मजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याघि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रातःकाल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये । अत. अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्याग तथा किसी अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम में विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति में किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी सभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्तत्तोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को कहा ''मेरा शरीर आयु कर्म के उदय से रत्नत्रय- आराधना में शनै. शनै. कृश हो रहा है। अत मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एव योग्यतम शिष्य को पदासीन कर दू। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एव श्रमण संस्कृति का सरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा सघ का कुशलता पूर्वक सचालन करसमस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।'' जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता

प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें सकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार को धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है।"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त में निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होंने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणों से समर्पित कर दी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२ नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायियों को साक्षात् एक अनुपम एव अद्भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज सघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एव मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे यह एक विस्मयकारी एव रोमांचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ठ उदाहरण था । आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एव आचार्य पद देने की स्वीकृति मांगकर, उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया । जिस बडे पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष से आकाश और मदिर का प्रागण गूज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रसर होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की सलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एव समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शातिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि स २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनाक १ जून १९७३ को दिन में १0 बजकर ५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मर हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख

और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायो का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आढू हो जाओ, तभी कल्याण सभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृतित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानो का ध्यान उनके महाकाव्यों की ओर गया है। परिणामत. आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही सघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृतित्व एव व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एवं चमत्कारिक क्षेत्र, सागानेर (जयपुर) में सगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृतित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अकित किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त समाज के समक्ष उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है। इस सगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निगधता से सम्पूर्ण विद्वत्त मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतरग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक सगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्मय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक सगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । विद्वानो की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावत कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एव विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अखिल भारतवर्षीय सगोष्ठी आयोजित की जावे । उसी समय विद्वानो ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुन प्रकाशित कराकर विद्वानों को, पुस्तकालयो और विभिन्न स्थानों के मदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय सगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे । इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय

पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानो के लिए आलेखित करने हेतु प्रेषित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त सगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें पूज्य मुनि श्री का सरक्षण, नेतृत्व एव मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा ।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एव उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है । अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गंभीर सागरजी एव पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एव उत्साह को देखते हुए इस सघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है ।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है । आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओ का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला- जो एक मुनि श्री के प्रवचनो को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं । सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन-अजैन समुदाय की इतनी भीड आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानो पर "क्लोज-सर्किट टी वी " लगाने पड रहे हैं। श्रावक सस्कार शिविर जो पर्यूषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है । अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एव सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार सस्कारित करेंगे ।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एव प्रभावपूर्ण उद्‌बोधन का इतना प्रभाव पड रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावान व्यक्ति आगे बढकर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमो को मूर्त रुप देना चाहते हैं । अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत-सगोष्ठी का आयोजन भी एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज

का ससघ यहाँ अजमेर में पदार्पण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनों का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावो को भुलाकर जैन शासन के एक झडे के नीचे आ गये । यहीं नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुन॰ प्रकाशन कराने का सकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एव विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एव साहित्यक छटा से अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एव धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एव पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओ से हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण सस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणो में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कडी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एव श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणों में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वंदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयाजली समर्पित करता हूँ ।

इन उपरोक्त भावनाओ के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह ऋषभ चरित पुस्तक ब्र प भूरामलजी शास्त्री ने लिखी थी, यही ब्र बाद में आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुए ।

इस ग्रन्थ का प्रथम सस्करण श्री दिगम्बर जैन समाज, मदनगज से प्रकाशित हुआ था । उसी प्रकाशन को पुन यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अत पूर्व प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन समाज मदनगंज का दिगम्बर जैन समाज, अजमेर आभार व्यक्त करती है । एव इस द्वितीय संस्करण में दातारो का एव प्रत्यक्ष एव परोक्ष मे जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम सस्करण से प्रकाशकीय एव प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत सलग्न हैं ।

दिनाङ्क · 13-14-15 अक्टूबर 1994
वीरोदय महाकाव्य पर अ भा विद्वत सगोष्ठी

विनीत
श्री दिगम्बर जैन समिति
एव सकल दिगम्बर जैन समाज
अजमेर (राज)

परम पूज्य
आचार्य 108 श्री ज्ञानसागरजी महाराज
सांख्यिकी – परिचय

प्रस्तुति - **कमल कुमार जैन**

पारिवारिक परिचय

जन्म स्थान - राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान
जन्म काल - सन् १८९१
पिता का नाम - श्री चतुर्भुज जी,
माता का नाम - श्रीमती घृतवरी देवी
गोत्र - छाबडा (खडेलवाल जैन)
बाल्यकाल का नाम - भूरामल जी
भ्रात परिचय - पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गगाप्रसाद/गौरीलाल/एव देवीदत्त)
पिता की मृत्यु - सन १९०२ मे
शिक्षा प्रारम्भिक शिक्षा गाव के विद्यालय मे एव शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस (उ प्र) से प्राप्त की ।

साहित्यिक परिचय

सस्कृत भाषा में

- ❊ दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
- ❊ सुदर्शनयोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरजनाशीति - (चरित्र काव्य)
- ❊ सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
- ❊ प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में

- ❊ ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
- ❊ कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
- ❊ देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड (पद्यानुवाद)
- ❊ स्वामी कुदकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि

चारित्र पथ परिचय

* सन १९४७ (वि स २००४) मे व्रतरूप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की ।
* सन १९५५ (वि स २०१२) मे क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५७ (वि स २०१४) मे ऐलक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५९ (वि स २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप मे मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज । आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
* ३० जून सन् १९६८ (आषाड शुक्ला ५ स २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जी के रुप मे विराजित है ।
* ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ स २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) मे जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलकृत किया एव इस तिथि को वि[illegible] [illegible]गर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
* सवत् २०२६ को ब्रह्मचारी [illegible] [illegible]लाल श्री गगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा । बाद मे क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये ।
* सवत् २०२६ मद्य ब्रह्म पन्नालाल जी को केशरगज अजमेर (राज) मे मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* सवत् २०२६ मे बनवारी लाल जी मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद मे ब्रह्म स्वरुपानन्दजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के सघ मे रहे ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलकृत किया ।
* क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतलसागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।
* पाडित्य पूर्ण जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल मे अनेको श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावको को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया।

आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी / एव वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय

* सवत् २०१६ - अजमेर स २०१७ - लाडनू, स २०१८ - सीकर (तीनों चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)
* सवत २०१९ - सीकर, २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा), स २०२१- मदनगंज - किशनगंढ स २०२२ - अजमेर, स २०२३ - अजमेर, स २०२४ - मदनगज-किशनगढ स २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ), स २०२६ - अजमेर (केसरगज), स २०२७- किशनगढ रैनवाल, स २०२८ - मदनगज-किशनगढ स २०२९- नसीराबाद।

विहार स्थल परिचय

* स २०१२ से स २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था में - रोहतक/हासी/हिसार/गुउगाँवा/रिवाडी/एव जयपुर ।
* स २०१६ से स २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/ लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगज-किशनगढ/नसीराबाद/बीर/ रुपनगढ/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरसोली/छप्या/दूदू/मोजमाबाद/ चोरु/झाग/सावरदा/खडेला/हयोढी/कोठी/मडा-भीमसीह/भींडा/ किशनगढ-रैनवाल/कास/श्यामगढ/मारोठ/सुरेरा/दांता/कुली/ खाचरियाबाद एव नसीराबाद ।

अतिम परिचय

* आचार्य पद त्याग एव सल्लेखना व्रत ग्रहण
  मगसर वदी २ स २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२)
* समाधिस्थ
  ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या स २०३० (शुक्रवार १ जून सन् १९७३)
* समाधिस्थ समय पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट ।
* सल्लेखना अवधि मास १३ दिन (मिति अनुसार)
  ६ मास १० दिन (दिनाक अनुसार)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणो में श्रद्धेव नमन्।
शत् शत् नमन ।

ॐ

अथ श्री ऋषभ चरितम्

जीना मरना तो जग के जीवों के साथ लगा ही है,
जिनने इन पर जय पाई उनका यह मन अनुयायी है ।
उनमें भी जो मुख्य ऋषभ उनकी गुण गाथा गाता हूँ,
अवनत से उन्नत कैसे बनता है सो बतलाता हूँ ॥१॥

श्री विज्ञान शिरोमणियों ने हमको यों जतलाया है,
जिस पर हम रहते हैं इस भू की सुन्दरतम काया है ।
कहीं जल स्थल कहीं उन्होंने इस पर नित्य बताया है,
और कहीं जलका थल तो थल का जल होता आया है ॥२॥

भूमि मध्य यह जम्बू नामा द्वीप मनोहर है भाई,
एक लाख योजन लम्बा चौड़ा यों कहते जिन साई ।
इसकी नाभि समान सुदर्शन कनक मेरु बतलाया है,
एक लाख योजन उन्नत जिसकी सुहावनी छाया है ॥३॥

उस पर पहिले देवलोक का ऋजु विमान आ पाया है,
छत्र तुल्य जिसने द्वीपों का इसको भूप बनाया है ।
इसमें पश्चिम विदेह नामक जो सत् क्षेत्र बताया है,
मोक्ष मार्ग ने जहाँ कि अपना ठाठ अखण्ड जमाया है ॥४॥

सीतोदा के उत्तर तट पर नीला चल के दक्षिण मे,
उर्मिमालिनी नाम नदी है बतलाते जिनराज हमें ।
उसके पूर्व तथा सुमेरु के पश्चिम गन्धिल देश बसे,
अपनी उत्तम सुषमा से जो स्वर्ग खण्ड के तुल्य लसे ॥५॥

जिसके बीच पूर्व पश्चिम लम्बा विजयार्द्ध शैलवर है,
उसकी दक्षिण उत्तर पुरियों में विद्याधर लोग रहैं ।
उत्तर की पुरियो मे अलका नामक सुन्दर नगरी है,
तीन वर्ण की प्रजा वहॉ पर आपस में प्रीत भरी है ॥६॥

शूद्र लोग सेवा तत्पर तो वैश्य वृत्तिकर होते हैं,
बाहुज जहा व्यवस्थापक हो सबका संकट खोते हैं ।
सूर्योदय से पहिले उठकर भगवद् भजन किया करते,
फिर सुपात्र के दान द्वारा गृहगत कष्मल को हरते ॥७॥

जो कि शील सयम युत हो प्रोषध पर्वो में करते है,
सदा व्यर्थ के पाप कार्य से होकर दूर गुजरते है ।
आशातीत समय से पहिले जहॉ कि अतिबल राजा था,
नहीं राज्य में जिसके कोई अन्याय का तकाजा था ॥८॥

जिसके मन को हरने वाली मनोरमा पटराणी थी,
वीणा से भी अधिक सुरीली जिसकी सुमधुर वाणी थी ।
उसके एक महाबल नामक पुत्र हुआ बडभागी था,
सत्स्वभाव भी दैवयोग से भोगों का अनुरागी था ॥९॥

जब वह युवा हुआ तब ताजा काललब्धि पा जाने से,
उसे राज्य दे दूर हुआ भोगों में काल गमाने से ।
राज्यकाल में अरियों पर जैसे निज धाक जमाई थी,
वैसे ही जिन दीक्षा ले झट कर्मो पर जय पाई थी ॥१०॥

भोग वासना जिसके मन से स्वयं दूर हो प्राई थी,
कनक कामिनीकी बातें भी जिसको कभी न भाई थी ।
अहो ! सब तरफ भूपर जिसके वैराग्य की बड़ाई थी,
जिसके निस्पृह मन को निर्वृतिरमा रिझाने पाई थी ॥११॥

इधर महाबल पर राज्य श्री ने भी प्रेम बताया था,
ताकि सुभगता उसकी पर वह सहज मुग्ध हो पाया था ।
जिसके सुप्रबंध में कोई कमी न रहने पाई थी,
ईति भीति से प्रजा हीन हो राजन्वती कहाई थी ॥१२॥

शासन रूप मनोज्ञ मंच के चार मनोहर पाये थे,
शुभमति शतमति संभिन्नमति स्वयं बुद्ध कहलाये थे ।
थे चारों ही राजभक्त फिर भी उनमें था भेद बड़ा,
तीन कहा करते थे भुजबल से ही रहता राज्य खड़ा ॥१३॥

किन्तु स्वयं बुद्ध कहता था बिना भाग्य के भुजा वृथा,
हो रहती है पुरुष बिना इस भूतल पर कामिनी यथा ।
इसी तरह काल क्रम से जब वर्ष वृद्धि का दिन आया,
राजा के कि मनुष्यों ने तब उत्तम उत्सव करवाया ॥१४॥

थे अमीर उनराव सभी आ बैठे निज निज वैभव से,
चित्त प्रसन्न थे सब ही के मानो रवि से हो कम लसे ।
इधर उधर के भूमि धरों ने आकर भेंट चढाई थी,
मोती माणिक आदिक की तब राशि वहाँ लग पाई थी ॥१५॥

जिसे देखकर नृप वरने भी प्रफुल्लता दिखलाई थी,
क्या है मेरे समान कोई यों उसके मन आई थी ।
स्वयं बुद्ध ने अवसर पाकर तब यह बात सुनाई थी,
प्रभो ! आपने पूर्व जन्म में सुतपस्या कर पाई थी ॥१६॥

जो करता है त्याग तपस्या वही सुखी हो रहता है,
आगे जाकर भी उसका फल परमोत्तम वह गहता है ।
मंत्रीत्रय के दिल को तो यह बात नहीं कुछ भाई थी,
उनने इसके बदले में तब ऐसी तर्क उठाई थी ॥१७॥

योग विशेष पिता माता के शुक्ररक्त का होने से,
जो पुतला बनता है देखो पंचभूत गुण ढोने से ।
शोणित की तेजी हो जब तक तब तक खेल दिखाता है,
किन्तु अन्त में जलकर वह ही मिट्टी में मिल जाता है ॥१८॥

किसके लिये कष्ट फिर सहना जीवन भर सुख से रहना,
भोलेपन से नहीं चाहिये व्यर्थ विचारों में बहना ।
स्वयं बुद्ध तब इस पर बोला यही हाल है इस तन का,
किन्तु जीव है भिन्न नित्य जो धारक है चेतनपन का ॥१९॥

वह शरीर में अहंकार वश होकर फिर फिर मरता है,
जीर्णगात को तजकर नूतन तनु का सर्जन करता है ।
तनु सम्बन्धित बाह्य वस्तुओं में ममता को धरता है,
उनके पीछे लगकर पर जीवों से विरोध करता है ॥२०॥

ऐसे रौद्रभाव से मर नरकों में चेतन जाता है,
मारण ताडन शूलारोपण आदिक दुःख उठाता है ।
इसी तरह जो अपने खाने पीने का ही आदी हो,
उसमें चाहे इतर जनों की कितनी ही बरबादी हो ॥२१॥

इन दुर्भावों के द्वारा पशु तन धरता है संसारी,
क्षुधा तृषादिक की बाधा होती है जहां कि भयकारी ।
परोपकार भावना को जो जीव चित्त में भाता है,
देवादिका का शरीर पाकर जग में सुखी कहाता है ॥२२॥

बिना परिश्रम के भी कोई वित्त बहुत पा जाता है,
कोई के श्रम करने पर भी दाना हाथ न आता है ।
एक दवा करते करते भी तो रोगी हो जाता है,
अंटसंट खाने वाला भी चंगा इतर दिखाता है ॥२३॥

इत्यादिक बातों से हमको यही मानना पड़ता है,
पूर्वोपार्जित कर्म इसी के वर्तमान में अड़ता है ।
जैसा किया पा रहे हैं पावेंगे जैसा करते हैं,
सभी जीव अपने अपने दैवानुसार तनु धरते हैं ॥२४॥

आता जाता दीखता न हम सबको चेतन कहीं कभी,
अनुमान द्वारा उसका सुबोध हो रहता है फिर भी ।
घूघू रवि को देख न सकता किन्तु जानता अवश्य है,
जिसके समुदय में वराक वह अन्धा होकर आप रहै ॥२५॥

देखी बात याद आती अन्धा हो जाने पर जिसको,
जीव नाम वह वस्तु नित्य है चाहिये समझना इसको ।
भूतादिक भी कभी पूर्व निजभव का हाल सुनाते हैं,
हम ऐसे थे और हो रहे ऐसे यों बतलाते हैं ॥२६॥

इसी बात को स्पष्ट रूप से हे नरनाथ बताता हूँ,
यहाँ आप के पूर्वज लोगों की ही कथा सुनाता हूँ ।
था अरविन्द घोष नामक भूपाल आप के सत्कुल में,
विजया राणी थी उसके जो रतिसम रूपवती जग में ॥२७॥

हरिश्चन्द्र कुरुविन्द नाम के दो सुपूत थे हो पाये,
मा बापों के चरणों में जो रहते थे शीश झुकाये ।
बहुधन्धी उस भूमिपाल ने नरक आयु का बन्ध किया,
अतः मरण सन्निकट काल में दाहज्वर ने घेर लिया ॥२८॥

चन्दनादि गोणचार करने पर भी न मिट सका था,
धन्वन्तरि सम भिषग्वर्य भी सब सदुपाय कर थका था ।
उसकी विद्यायें भी उसके विमुक जहाँ कि हो चली थी,
अशुभोदय से उसके तनु में बढ़ती हुई बेकली थी ॥२९॥

पुत्रों ने सोचा कि पिता को सीता तट पर पहुंचा दें,
वहाँ कल्प वृक्षों की स्वच्छ हवा से इन्हें शांति ला दें ।
उनकी विद्या ने भी ऐसा करने से इन्कार किया,
पुण्यक्षय होने से कोई उपाय ने क्या काम दिया ॥३०॥

इतने में दो छिपकिलयाँ लड़ती लड़ती आ पहुँची थी,
पूछ एक की अन्य ने वहॉ आकर शीघ्र तोड़ ली थी ।
एक बूंद आपड़ी भूप मुख में कि अल्पसाता आई,
इसी समय में अवधि विभङ्ग नाम की उसके हो पाई ॥३१॥

पापी को तो पाप समर्थक बातें ही मिल पाती हैं,
अच्छी बातें होने पर भी उसको नहीं सुहाती हैं ।
कुरुविन्द को बुलाकर तब झट रुग्ण वहॉ पर था बोला,
रक्तवापिका भरवादो इस वन में मृग हैं उनको ला ॥३२॥

क्रूरभाव के द्वारा अपने पातक का घट भरने को,
निःसंकोच भाव से बोला जो था सम्मुख मरने को ।
जनकाज्ञा वश होकर सुत ने वन को था प्रस्थान किया,
एक महा मुनीश ने उसको पथ में ही था रोक लिया ॥३३॥

मरकर शीघ्र नरक जावेगा सुन लो वत्स ! पिता तेरा,
जिसके लिये हरिण हत्या का बनने चला व्यर्थ डेरा ।
तू है, हन्त ! पिता तेरा तेरे न काम कुछ आवेगा,
तेरे कुकर्म का हे बालक ! तू ही दुःख उठावेगा ॥३४॥

ऐसा सुन कुरुविन्द ने कहाँ जो कि पिता दिव्यज्ञानी,
नरकों वह जावेगा कैसे कहिये हे आतम ध्यानी ।
मुनि बोले वह पाप कार्य में ही पंडित हो पाया है,
भली बात को नहीं जानकर दुःखद उसकी माया है ॥३५॥

और कहाँ क्या कर आया हूँ ऐसा तुम पूछोगे तो,
कुछ भी नहीं बतावेगा वह इसीलिये अब तुम चेतो ।
निर्णय करने पर मुनिवरकी बात ठीक हो पाई थी,
अतः लाख के जल की वापी उसके लिये भराई थी ॥३६॥

रक्त बुद्धि से उस हतमति ने जिसमें गहरी रुचि ली थी,
किन्तु जहाँ कुरला किया कि फिर वृत्ति हुई कोपवती थी ।
लेकर छुरी मारने को जब दौड़ा पैर फिसल पाया,
लगी कटारी खुद के उर में सहसा वहाँ काम आया ॥३७॥

रौद्रभाव से गया नरक में जिसको वृद्ध जानते हैं,
एक कथा फिर सुनो आपके कुल के सभी मानते हैं ।
दण्ड नाम का भूपति जिसके देव सुन्दरी राणी थी,
राजा की उस रूपवती पर समझो प्रीति पुराणी थी ॥३८॥

मणिमाली पुत्र को राज्य दे करने लगा कि काम कथा,
आर्तभाव से मरकर अजगर हुआ खजाने में वह था ।
जातिस्मरण जिसे हो पाया अतः न आने दे किसको,
सिर्फ पुत्र के आने पर चुप हो रहे न काटे उसको ॥३९॥

मुनि के मुख से जनक जानकर मणिमाली ने समझाया,
देखो लोभवशतया तुमने नरसे अजगर तन पाया ।
विषय वासना बुरी जानकर इसे तजो जिनराज भजो,
धर्मभावना में रत होकर अघ के आश्रव को वरजो ॥४०॥

अतः किया धार्मिक जीवन था मरण समय संन्यास लिया,
सौधर्म स्वर्ग में महार्द्धिक देव भाव को प्राप्त किया ।
मणिमाली को आकर उसने रत्नहार था दिया अहा,
वही आपके कण्ठ में महाराज आज भी राज रहा ॥४१॥

महाराज के दादा शतबलजी ने धर्मध्यान किया,
अतिबलजी को राज्य सौंपकर अन्त समय सन्यास लिया ।
सुरस्थान चौथे में जाकर वहाँ उन्होंने जन्म लिया,
एक रोज फिर मेरु जिनालय में जिनजी का स्तवन किया ॥ ४२॥

क्रीड़ा करते हुए आप भी वहाँ पहुँच जब पाये थे,
उनने हित उपदेशों द्वारा सब सन्देह हटाये थे ।
पुण्य पाप का फल जैसा आपके पूर्वजों ने पाया,
जान रही है प्रजा स्पष्ट जिसको कर मैंने बतलाया ॥४३॥

ऐसे सभी लोग अपनी अपनी करणी का फल पावें,
जैसा अच्छा बुरा करे वैसा सुख या दुःख उठावें ।
इसके लिये जीर्ण तन् को तज नूतन फिर उप जाते हैं,
यथा पक्षिगण नीड़ पुरातन तजकर नया बनाते हैं ॥४४॥

हाँ दुष्कृत की तरह सुकृत से भी आगे बढ़ जाते हैं,
निष्कर्मा बनकर महापुरुष शाश्वत सुख को पाते हैं ।
उदाहरण के लिये आपके ले लो क्यों न पिता को ही,
तज गृहवास हुए वैरागी जहाँ फँस रहा है मोही ॥४५॥

पाया केवल बोध सुरासुर पूजित होकर मुक्ति वरी,
मैंने और आपने ही क्या देख चुकी सारी नगरी ।
अत: अधर्म भाव को तजकर धर्म भाव पर आ जाओ,
मनमानी बातें न करो झट सत्य मार्ग को अपनाओ ॥४६॥

युक्तियुक्त सुन वचन सचिव के सारी सभा हुई राजी,
कहने लगी कि जन हितकारी स्वयं बुद्ध की मति ताजी ।
स्वयं बुद्ध फिर गया एकदा श्री सुमेरु पर्वत पर था,
आदित्यगति प्रथम दूसरे साधु अरिंजय मिले तथा ॥४७॥

चारणर्द्धि अवधिज्ञानान्वित जिनकी विपुल बड़ाई थी,
उनको नमस्कार कर उसने शंका वहाँ उठाई थी ।
भव्य है कि वह अभव्य ही है प्रभो ! जो कि मेरा स्वामी,
कृपा कीजिये बतलाने की क्योंकि आप अन्तर्यामी ॥४८॥

इस पर जेठ मुनि बोले वह आदि तीर्थंकर होवेगा,
जम्बूद्वीप भरत में जनता के कल्मष को धोवेगा ।
उसने अपने पूर्व जन्म में किया निदान कि भोगों में,
लगा हुआ है मन संयम के विपरीताभिनियोगों में ॥४९॥

वृत्त एक बतलाऊँ जिससे उसका कुछ हित हो पावे,
स्वप्न उसे दो आये हैं तुम जावों तो वह बतलावे ।
तीन मंत्रीयों ने तो उसको दलदल में था फँसा दिया,
तुमने किन्तु निकाल उसे उसका फिर था अभिषेक किया ॥५०॥

दीपशिखा देखी फिर उसने चटपट ही जो बुत पाई,
एक मास की आयु शेष केवल उसकी अब हो आई ।
उसके कहने से पहिले ही तुम उसको बतला देना,
स्वप्नों का यह हाल ताकि निज वांछित सफल बना लेना ॥५१॥

यह सुनते ही मंत्री के मन में प्रमोद था हो आया,
मानों जन्मान्धने यहाँ पर उत्तम अवलोकन पाया ।
तब फिर मुनिपद रज लेकर वह शीघ्र निकट नृप के आया,
मुनि के आदेशानुसार वृत्तान्त वहाँ कि कह सुनाया ॥५२॥

जिसको सुन नृप के मन में संवेग भावना हो आई,
सोचने लगा अहो कि मैंने मानवता व्यर्थ गमाई ।
विष सम विषयो में फँस देखो किये कुकृत्य दुःखदाई,
इसकी बात जो कि सुखकर थी अब तक मुझको न सुहाई ॥५३॥

पित्तज्वर वाले को जैसे दूध लगे कड़वा भाई,
वैसे ही मूर्खतया मैंने बातें इसकी ठुकराई ।
अस्तु हुआ सो हुआ किन्तु अब भी कुछ कर बतलाऊँ मैं,
भूला भटका भी सन्ध्या तक घर आया कहलाऊँ मैं ॥५४॥

सो विचार कर सबल पुत्र को राज्य भार था सौंप दिया,
आठ दिवस तक तन मन धन से जिन पूजा का ठाठ किया।
स्वयं बुद्ध की साक्षी से फिर सर्व परिग्रह छोड़ दिया,
यथाजातपन को अपनाकर पंच परम गुरु शरण लिया ॥५५॥

चतुराहार विसर्जन कर बाईस रोज उपवास किया,
सुदृढ़ाध्यवसायान्वित हो प्रायोपगमन संन्यास लिया।
शुभभावों से नर शरीर तज दिव्यदेह अपनाया था,
श्री प्रभ नामक विमान में ललितांग नाम हो पाया था ॥५६॥

अन्तर्मुहूर्त में कि पूर्ण यौवनवाला हो पाया था,
वस्त्राभूषण पुष्पदाम दिक युत देह सुहाया था।
सुरद्रुमों से पुष्पवृष्टि न्दुभि आदिक वादित्र बजे,
मन्दसुगन्ध पवन गन्ध दक वर्षा जैसे ठाठ सजे ॥५७॥

जय हो जय हो ऐसे कर लोग जहाँ कि नम रहे थे,
जिसे देखकर उस न ने निम्नांकित भाव गहे थे।
कैसा है यह ठाठ अहो क्या कोई स्वप्न देखता हूँ,
कौन लोग हैं जो कि नम रहे मुझे, जानना मैं चाहूँ ॥५८॥

कहाँ आ गया मैं क्यों मुझको यहाँ कौन ले आया है,
मन है प्रसन्न हो रहा मेरा कैसी अद्‌भुत माया है।
सो विचार करते करते ही दिव्य बोध हो पाया था,
जिसने उसके मन के संशय को झट दूर भगाया था ॥५९॥

मैंने केवल मरण समय में धर्मभाव था अपनाया,
उसका फल यह सुदेवपन मानवपन से सहसा पाया ।
यह ईशान सुरस्थल है शुभ ये हैं देवी देव खड़े,
अहो पुण्य के प्रताप से पाये हैं मैंने ठाठ बड़े ॥६०॥

यह धर्म का फल जानकर जिन भजन करने के लिये,
मंगल स्नान किया प्रथम था द्रव्य आठों फिर लिये ।
जाकर जिनालय में वहाँ अभिषेक पूजा प्रेम से,
की और फिर आकर सुरासन लिया अपना क्षेम से ॥६१॥

थी चार सहस सुरांगना मृदुरूप गुण लक्षणवती,
जिन पर कि चार पवित्र मनवाली महादेवी सती ।
स्वयमेव थी पहली प्रभा कनकप्रभा थी दूसरी,
तीजी कनककी थी लता विद्युल्लता चौथी सुरी ॥६२॥

इन देवियों के साथ वह रमता रहा निज सुकृत से,
जिसका सुवर्ण समान सप्तारत्नि उन्नत तनु लसे ।
अणिमादि सत्तम ऋद्धिधर वर सागर स्थिति थी अतः,
आहार एक हजार वर्ष गये जहाँ होता स्वतः ॥६३॥

मानसिक अमृत स्त्रोतमय संतृप्ति कर उस देव का,
उच्छवास पन्द्रह दिन गये होता रहा गुणिदेव का ।
जिसकी सुरभिसे दिग्वलय सुरभित सहज होता रहा,
जिसके न तनु में रोग कोई भी कभी होता अहा ॥६४॥

शीत उष्ण वर्षा की बाधा जहां नहीं होती है,
निशा दिवस का भी न भेद मणिमया नित्य ज्योति है ।
सुख से उसका समय वहां पर अतः सहज कटता था,
श्री जिनजी का नाम चित्त से नित्यप्रति रटता था ॥६५॥

एक एक दिन के क्रम से यों आयु अन्त हो पाया,
बून्द बून्द सुसते सुसते न पयोधि अहो रह पाया ।
उसकी वह दीर्घायु जहां षण्मासावधि रह पाई,
बिना नीर के कीच की तरह निष्प्रभता हो आई ॥६६॥

निशा अन्त में दीपप्रभा भी यथा मन्द पड़ जाती,
वैसे उसके तनु गहनों की हुई वहाँ मणिताति ।
सदा प्रफुल्लित गलमाला जिसकी कि दीख पाती थी,
बिना कान्त बनिता जैसी तब मुरझाई जाती थी ॥६७॥

जिसे आज तक समझ रहा था सुकृत जलधिकी लहरी,
उसी जीवनी से अब उसको घृणा हो चली गहरी ।
कांपने लगे वृद्ध की तरह कल्प वृक्ष थे सारे,
उसके सब उत्साह हो चले एकाएक किनारे ॥६८॥

जो कि आपको अमर समझकर कमर कसे रहता था,
म'ना है क्या चीज यही अपने दिल में कहता था ।
अनुभव यह हो रहा उसे था अब मैं मर जाऊँगा,
यह जो ठाठ बन रहा है फिर इसे कहाँ पाऊँगा ॥६९॥

सामानिक देवों ने उसको तब यों था समझाया,
दृश्यमात्र यह अनित्य सारा जिनजी ने बतलाया ।

जो शरीर धरता है वह तो मरता भी है साधो !
तुम भी तो हो समझ रहे अतएव चित्त को साधो ।।७०।।

जो शरीर से रहित सिद्ध हैं उन्हें अमर पहिचानो,
हम लोगों का तो कहने भर अमर नाम तुम जानो ।
हाँ, यदि मरने से डरते होतो निज मरण सुधारो,
श्री समाधि से देह तजो यह देह मनुज का धारो ।।७१।।

वहाँ भोग तज योग गहो तब ठीक अमर बन पाओ,
निजानन्द में लीन बनो मुक्ति श्री नाथ कहाओ ।
आर्तभाव से देह तजोगे तिर्यग्गति पाओगे,
जिससे भव भ्रमण को साधो ! तुम फिर अपनाओगे ।।७२।।

इस साबुन ने उसके मानस पटका मैल हटाया,
ताकि विशुद्धतया उस पर जिनपद अंकित हो पाया ।
भगवत् पूजन करते करते एक पक्ष जा पाया,
तदनन्तर इसका सुस्नेही अच्युत सुर था आया ।।७३।।

इसे वहाँ ले जाकर जिन पूजन का ठाठ रचाया,
इसके साथ वहाँ अपना भी कल्पष दूर भगाया ।
अन्त समय तक इसने जिन पूजन में चित्त रमाया,
आर्तभाव अतएव न इसके पास फटकने पाया ।।७४।।

दोहा

धर्म किये संसार सुख धर्म किये निर्वाण ।
धर्मभाव में निरत हो जो चाहे कल्याण ।।७५।।

卐 प्रथम अध्याय समाप्त 卐

卐 दूसरा अध्याय 卐

अथ पति वियोग से स्वयं प्रभा जब चिन्तित थी हो पाई,
सामानिक देवों ने मिलकर उसको भी थी समझाई ।
तब उसकी भी चित्तवृत्ति जिन पूजन में थी लग पाई,
षण्मासावधि जिनाराधना कर सद्गति उसने पाई ॥१॥

इसी द्वीप के प्राग्विदेह में पुण्डरीकिणी नगरी है,
प्रजा वहाँ की धर्म कर्म में निरत हो रही सगरी है ।
वज्रदन्त नामा चक्राधिप जहाँ कि राज्य कर रहा था,
लक्ष्मीमती प्रिया उसकी जिसका कि रूप गुण महा था ॥२॥

स्वयं प्रभा श्रीमती नाम से उसके आकर हुई सुता,
धीरे धीरे जब हो पाई वह नवयौवन भाव युता ।
सहचारियों के साथ महल की छत पर आई थी कि जहाँ,
नभ में सुरपरिकर को उसने देखा एकाएक वहाँ ॥३॥

जो कि यशोधर केवलि प्रवर की पूजा को आया था,
उसे देखकर उसने अपना पूर्व जन्म लख पाया था ।
किन्तु कहां ललितांग गया यह समझ में नहीं आया था,
मूर्छादेवी का उसने अतएव साथ अपनाया था ॥४॥

हाल देख यह सारा उसका परिकर ही घबराया था,
शीतोपचार कर दुर्लभता से फिर होश दिलाया था ।

तो भी उसने मौन लिया था सहसा लज्जा वश हो,
अगर कहे तो किसे क्या कहे असमंजस था उसे अहो ॥५॥

सखियों ने उसके मा बापों को जाकर था हाल कहा,
श्रीमति न जाने क्यों कैसे हो रही प्रभो ! विकल महा ।
तब माता तो थी घबराई फिर भी पिता समझ पाया,
बोला सोच न करो पूर्व वृत्तान्त याद इसको आया ॥६॥

इतने में आ एक ने कहा चक्ररत्न हो पाया है,
आयुधशाला में हे नृपते ! सत्कृत की यह माया है ।
तभी हुआ मालूम कि केवल बोध पिता को हो पाया,
अतः प्रथम उनकी पूजा करने को मन था हुलसाया ॥७॥

जान रहा था वह कि धर्म से सब संकट मिट जाते हैं,
अनायास ही इस भूतल पर वांछित होने पाते हैं ।
धर्म कार्य में गेहिजनों के लिये प्रथम जिन पूजा है,
सम्पादन के योग्य और फिर कहा काम सब दूजा है ॥८॥

अतः पण्डिता नाम धाय को सुता निकट था छोड़ दिया,
वज्रदन्त ने केवलि पूजा करने को प्रस्थान किया ।
परिजन पुरजन ने भी जिसका सहर्ष सहसा साथ दिया,
जिनवर को प्रणमन करते ही नृप ने अवधिज्ञान लिया ॥९॥

इधर पण्डिता बोली बाला से कि स्पष्ट कहो बेटी,
क्या चिन्ता है जिसे दूर करने को यत्न करे चेटी ।

जो कोई जैसी भी बाधा तुझे यहाँ हो सता रही,
मुझे बताने में हे बाले ! करो जरा संकोच नहीं ॥१०॥

तब वह बोली जननि ! सुनो प्राग्जन्म याद मुझ को आया,
हे तेरा आग्रह इससे कहने को मानस उमगाया ।
द्वीप घात की खण्ड के प्रथम मेरु की अपर विदेह में,
गधिल नामक देश वहाँ पाटण ग्राम विश्रुत जग में ॥११॥

नागदत्त था बनिया उसमें उसके भार्या सुरती थी,
पांच पुत्र दो पुत्री होकर तीजी मैं अघ फुरती थी ।
जब मेरा था जन्म हुआ तब सब कुटुम्ब मर पाया था,
एकाकी मेरे जीवन में मैंने कष्ट उठाया था ॥१२॥

थोड़े दिन के बाद पाप हलका होने पर आया था,
एक रोज वन में पिहिताश्रव मुनि को मैंने पाया था ।
हाथ जोड़कर बोली मैंने था कैसा पाप कमाया,
परभव में हे मुने ! ताकि यह एकाकी जीवन पाया ॥१३॥

मुनि बोले निर्नामिके ! सुनो ग्रामकूटक पुजारी था,
इसी क्षेत्र के पलाश पर्वत जनपद का परिवारी था ।
जिसके सुमति स्त्री उसके थी नाम वनश्री तू पुत्री,
तुझे मिले तरुकोटर में स्थित एक रोज मुनि गुण सूत्री ॥१४॥

समाधिगुप्त नाम उनके आगे था मृत कुक्कुर डाला,
तूने तेरे सद्विचारमय शस्य पर पड़ा यों पाला ।

हॉ उन मुनि ने समझाई तब तूने निज निन्दा की थी,
अपने किए पाप को हलका करने की सुविधा ली थी ॥१५॥

इसीलिये तू बालिके यहाँ ऐसी होने पाई है,
साधु अवज्ञा जग जीवों को कष्टप्रद बतलाई है ।
यह सुन जब मैं कांपने लगी कृपा उन्होंने क्री ऐसी,
श्रुतज्ञान जिनगुणसम्पत्व्रतविधि बतलाई थी जैसी ॥१६॥

मैंने किये समाधि सहित तनु छोड़ा स्वयं प्रभा देवी,
हुई कान्त ललितांग देव मेरा था जो सद्गुण सेवी ।
मैं हो पाई यहाँ और वह जाकर पैदा हुआ कहाँ,
यही जानने को मेरा मन लालायित हो रहा यहाँ ॥१७॥

देती हूँ मैं चित्रपट इसे महापूत जिनमन्दिर में,
लेजा खोज कान्त मेरे को जहॉ भव्यजन चित्त रमें ।
ऐसा कहकर उसे विदा की इतने मे बापू आया,
बोला बाले ! तज चिंता, हो वह जो तुझ मन को भाया ॥१८॥

तेरी स्वयं प्रभा के भव का पति ललितांग देव सुन ले,
मेरी भगिनी वसुन्धरा का पुत्र हुआ हे चन्द्रकले !
अब भी वह तेरा पति होगा इसमें कुछ सन्देह नहीं,
अवधिबोध हो रहा मुझे इससे मैंने यह बात कही ॥१९॥

उसे लिवा लाने को ही मैं शीघ्र जा रहा हूँ सुभगे !
कर स्नान जिनपूजनादि में लगो कि पातक दूर भगे ।

इतने में वह धाय पण्डिता भी तो थी वापस आई,
जिसके खुश मुँह से लगता था सफल प्रयत्ना हो आई ॥२०॥

आकर बोली हे बाले ! तू जग में भाग्यवती अति है,
वांछित पति है मिला, प्रकृति आकृति भी जिसकी कि सती है।
महापूत मन्दिर में जाकर मैंने पट फैलाया था,
दर्शक लोगों का उस आगे ताँता ही लग पाया था ॥२१॥

कोई तो बोला कि चित्र यह लिखा गया तो सुन्दर है,
किन्तु मैं न जान सकता हूँ यह, रचना किस रहस्य पर है।
कोई कहता था कि बता सकता हूँ मैं मतलब सारा,
तो मैं गूढ प्रश्न पूछ कर पाती उसको बेचारा ॥२२॥

इतने में आया एक युवा कामदेव से बढ़कर था,
उसने देखा चित्रपट सुनो आगे जो कुछ हुई कथा।
वह मुझसे बोला कि हे शुभे ! यह किसकी है हस्तकला,
इसमें अंकित है प्रस्फुट ईशान कल्प का हाल भला ॥२३॥

जहाँ कि मैं ललितांग देव था यह छवि है स्वयं प्रभा की,
जिसने अपने इंगित से मेरे भव की महिमा आंकी।
मेरी उसके साथ हुई जो भी प्रेमभरी लीला,
उसका चित्रण यहाँ हो रहा यह देखो गुप्त सजीला ॥२४॥

मैं तो उत्पलखेटाधीश्वर वज्रबाहु का पुत्र यहाँ,
वज्रजंघ अब कहलाता हूं किन्तु हन्त ! वह सती कहां।

कौन हुई है यही जानने को मेरा मन चाह रहा,
यों कहते ही भर आया था बाले ! उसका गला अहा ॥२५॥

मैंने कहा न घबराओ यह मातुलसुता तुम्हारी है,
तुम्हें खोजने को ही उसने यह सब की तैयारी है।
हिमाकान्त बल्ली जैसी वह बिना तुम्हारे बाला भी,
हे गुणीश ! मरुकूप सरीखी जिसकी गहरी है नाभी ॥२६॥

चित्रपट लिया तेरा उसने यह लिखकर दिखलाया है,
मानों मनको अदल बदलकर आपस में बतलाया है।
देख चित्रपट हुई श्रीमती सरोजिनीसी प्रभात से,
कहने लगी कि आज हमारे भाग्योदय से अघ विनसे ॥२७॥

चक्रनाथ था गया उधर बहनेऊकी अगवानी को,
बहन और भाणेज साथ थे जिनके सुखदायक जी को।
सम्मेलन वह हुआ सरस नद से समुद्र का हो जैसा,
प्रेम भाव का दिग्दर्शन भूतल पर होता है ऐसा ॥२८॥

क्षेमकुशल पृच्छानन्तर चक्रीने ऐसा वचन कहा,
आये आप हमारे घर यह मेरा है सौभाग्य महा।
यहां आपके मन को जो भी रुचे चीज वह ले लेवें,
अतिथीसंविभाग का मुझको कुछ अवसर नर वर देवें ॥२९॥

इस पर वज्रबाहु बोले जब कृपा आप जैसों की है,
कौन कमी है मेरे घर भी बेकरड़ी कोदों की है।

फिर भी बात आपकी को ठुकराना तो हो ठीक नहीं,
अतः चित्त मेरे में श्रीवर बात एक है उपज रही ॥३०॥

रत्नाकर आपके यहाँ श्रीमती कुमारी सुन्दर है,
मुझ जड़ के उत्पन्न हुआ यह वज्रजंघ एक कुंवर है ।
समुचित अगर आप समझें तो यह उसका हृदयेश्वर हो,
वह बनकर इसके मानस की पक्षिणी सदा सुखी रहो ॥३१॥

चक्री तब बोला कि इसे भी अनुचित कौन नर बतावे,
वसुंधरांगज से ही तो श्रीमती सार्थिका बन पावे ।
यह कहकर था स्थपतिरत्न को उसने फिर इस तरह कहा,
हो जावे तैयार शीघ्र ही मण्डप एक मनोज्ञ महा ॥३२॥

क्या थी देर खड़ा किया वहाँ उसने उसको बातों में,
एक हजार देव जिसके निशदिन रहते थे हाथों में,
सुवरण के खम्भे लगकर रत्नों की छायादार बना,
वेदीस्थल माणिक्यमय की हो लोगों का अनुराग घना ॥३३॥

और जहाँ उत्तम से उत्तम सब बातें हो पाई थीं,
मानों सौभाग्य ने स्वयं साम्राज्य कला प्रगटाई थी ।
जहाँ श्रीमती से हो पाया वज्रजंघ का गठजोड़ा,
मानो जिनधर्म ने दया के साथ ठीक नाता जोड़ा ॥३४॥

बोली थी श्रीमती कि मेरे तो सौभाग्य आप ही हो
वज्रजंघ बोला मेरी गलमाला तुम अन्य नहीं हो ।

ऐसे वह उसका जीवन तो वह भी उसकी जान रही,
दोनों की आजन्मवासना अन्य किसी पर गई नहीं ॥३५॥

वज्रबाहु ने भी अनुन्धरी नामक अपनी तनया का,
चक्री के सुत अमित तेज के साथ वहीं विवाह आंका ।
उत्पलखेटाधीश निजस्त्री पुत्र पुत्ररामायुत था,
अपने पुर को वापिस आया अब आगे की सुनो कथा ॥३६॥

श्रीमती सहित वज्रजंघ शुभ कालक्षेप कर रहा था,
इक्कावन जोड़े पुत्रों के हो पाये भाग्य महा था ।
सभी बड़ों के आज्ञाकारी गुणी और नीरोग भले,
सुत थे उसके अतः सुख सहित थोड़े दिन थे बीत चले ॥३७॥

छत पर बैठे वज्रबाहुने एक रोज अब था देखा,
गगन नगर जो खड़ा हुआ झट विघट चली उसकी लेखा ।
उसे देख वैराग्य हो गया वज्रबाहु को था जब ही,
सोचा क्षणिक खेल यह सारा इसमें कुछ भी सार नहीं ॥३८॥

यमधर मुनि के निकट जैन दीक्षा उसने अपनाई थी,
तभी श्रीमती के सौ पुत्रों ने भी ले बतलाई थी ।
वज्रबाहु ने ध्यान पवन से विधि बादल विघटाये थे,
ज्ञानभानु को पाकर लोकालोक सभी प्रगटाये थे ॥३९॥

वज्रजंघ राज्य श्री के शुभकटाक्ष वश हो पाये थे,
तथा श्रीमती के मुखाब्ज पर अलिकी तरह लुभाये थे ।

वाम बगल में श्रीमती इतर में राज्यश्री रहती थी,
धर्म भावना हृदयस्थल में यों उसकी मति महती थी ॥४०॥

इधर एक दिन माली ने था कमल दिया चक्रीको ला,
जिसमें मृत अलि देख हृदय उसने अपना यों था खोला।
इस भौंर ने घ्राणेन्द्रिय के वश हो प्राण गमाये हैं,
क्योंकि सभी ये जगजन्तु इन्द्रियाधीन हो पाये हैं ॥४१॥

मीन मतंग पतंग मृगादिक एकैकेन्द्रिय विवशतया,
कष्ट उठाते हैं कैसा हम देख रहे हैं स्पष्टतया ।
तो फिर मेरे जैसा नर जो पंचेन्द्रिय विषयाश्रित है,
इसकी होगी दशा कौन यह इस भोंदू को कौन कहै ॥४२॥

विषसम विषय अहो ! आपात मात्र रमणीय दीखते हैं,
इनके चखने वाले क्षणभर में फिर किन्तु चीखते हैं ।
किन्तु करें क्या इनको तो अज्ञानभाव ने दबा लिया,
हा ! ज्ञानी होकर भी मैंने अब तक नहीं विचार किया ॥४३॥

इस नर तनु जैसे को भी भोगों में ही है लगा दिया,
चिंतामणि से काग उड़ाने का देखो तो काम किया ।
अस्तु हुआ सो हुआ किन्तु अब भी मैं कुछ कर बतलाऊँ,
जिनदीक्षा माता की सेवा कर अपना हित कर पाऊँ ॥४४॥

यह विचार कर अमित तेज अंगज को उसने बुलवाया,
राज्यभार अपने ऊपर लेने को उसे कह सुनाया ।

वह बोला जब बुरा जानकर आप इसे तज जाते हैं,
कहिये तो कि वृथा ही क्यों फिर मुझको यहां फंसाते हैं ॥४५॥

जो करते हैं आप वही मैं करने का यत्न करूँगा,
अनुचर होकर आपके प्रभो ! चरणों में शीश धरूँगा।
क्रम से और सभी पुत्रों को जहाँ बुलाकर था बोला,
यही प्रार्थना की उनने मन उनका था विराग तोला ॥४६॥

तब फिर हो लाचार वहाँ जो अमिततेज का बालक था,
पुण्डरीक नामक उसके शिर राज्य तिलक था किया तथा।
यशोधराभिध मुनि समीप में जाकर हुआ दिगम्बर था,
सुत हजार फिर तीस सहस नृप और उसी के संग तथा ॥४७॥

साठ हजार राणियाँ भी थी हुई आर्यिकायें सारी,
तथा पण्डिता धाय ने लिया व्रत उत्तम निज हितकारी।
मुक्तिश्री के बाहुपाश में चक्रनाथ था हो पाया,
लक्ष्मीमती महाराणी के मन में यों विचार आया ॥४८॥

यह षट्खण्डमही अनुशासन हीन आज दिखलाती है,
पुण्डरीक यह छोटा बच्चा तरस यही तो आती है।
वज्रजंघ के समीप में फिर समाचार यह भिजवाया,
जिसे जान उसके मन ने भी असमंजस को अपनाया ॥४९॥

सुना श्रीमती ने तब उसने था अत्यन्त दुःख पाया,
खाना पीना भूल गई वह बोली क्या संकट आया।

उसे सान्त्वना दी भूपतिने पुण्डरीकपुर चलने की,
फिर उत्तम बेला में यात्रा थी उस कार्य कुशल ने की ॥५०॥

मतिवर मंत्री आनन्दप्रद साथ पुरोहित था जिसके,
सेनाधिपति अकम्पन धनमित्राख्य सेठ भी थे इसके ।
सदा सफलता कारक थे जो चारों पुरुषार्थों जैसे,
सती श्रीमती वाम बगल में शची इन्द्र के हो वैसे ॥५१॥

हाथी घोड़े रथ पायक लोगों का पूरा परिकर था,
ध्वजा निशान वाद्य आदिक का संग समुत्तम ठाठ तथा ।
श्री अरहंतदेव का नामोच्चारण कर था कूच किया,
शुभ शकुनों ने भी तब आकर उसको दर्शन वहाँ दिया ॥५२॥

चलते चलते कुछ दूरी पर एक सरोवर था आया,
जिस पर लगी हुई थी उत्तम तरुओं की महती छाया ।
दानवीर की तरह दूर तक अपनाई जिसने कि धरा,
मुनिवर के मन के समान जिसमें था निर्मल नीर भरा ॥५३॥

सुमधुर सुगन्ध देने वाले जिसमें कमल खिल रहे थे,
मन्द समीर द्वारा मत वाले की भाँति हिल रहे थे ।
जिन पर मँडराने वाले भौरों का उत्साह महा था,
जलचर पक्षीवृन्दों का कलरव भी वहाँ हो रहा था ॥५४॥

जिसका सम्भव इस भूतल परहुआ अहो ! परार्थ ही था,
शीतल जल फल दे, करता अभ्यागत का सुखिया जी था ।

उस तलाब के तट पर उसने था अपना पड़ाव डाला,
जो था दीन अनाथों की मन से रक्षा करने वाला ॥५५॥

यथास्थान सबने अपना डेरा किया,
शौच स्नानानन्तर जिनवर भज लिया ।
नहीं किसी को कोई थी अड़चन रही,
श्रान्त भाव को भुला उचित साता गही ॥५६॥

卐 दूसरा अध्याय समाप्त 卐

卐 अथ तृतीय अध्याय 卐

अब और आगे क्या हुआ सुन लीजिये पाठक कथा,
मध्याह्न की बेला हुई भोजन समय जब निकट था ।
आते हुए ईर्यासिमिति युत दीख पाये दो यती,
कान्तारचर्या नियम पर लग रही थी जिनकी मती ॥१॥

श्रीमती संयुत वज्रजंघ नरेश ने पड़गाहना,
की स्पष्ट नवधा भक्ति से उनकी कि अघ अपना हना ।
जिनका कि यमधर और सागरसेन उत्तम नाम था,
फिर भव्यजीवों पर अनुग्रह कर बताना काम था ॥२॥

चारण महर्द्धि विकाशयुत जिनका कि आत्माराम था,
एवं अवधिसंज्ञानयुत हो सुकृत का आराम था ।
उन महामुनियों का अहो ! श्रद्धा सहित तर्पण किया,
दम्पती ने सिद्धान्न उनके हाथ में अर्पण किया ॥३॥

जय जय किया नभ में सुरों ने देवदुन्दुभि थे बजे,
गन्धाम्बु मन्द सुगन्ध वायु लतान्त वर्षण भी सजे ।
यह धन्य दाता जो सदन्न पदार्थ दान किया करे,
फिर पात्र भी यह धन्य जो निर्दोष रत्नत्रय धरे ॥४॥

इस तरह से निर्विघ्न जब आहार मुनि का हो लिया,
था धर्म वृद्धि निदेश मुनिवर ने वहाँ उनको दिया ।
तब देख अवसर वज्रजंघ नरेश ने था यों कहा,
सचिवादि पर मेरा प्रभो ! क्यों प्रेम इतना हो रहा ॥५॥

मुनि मुख मनोज्ञ मृगाङ्क से फिर अमृतसा झरने लगा,
श्रोता जनों के हृदय का अज्ञान विष जिससे भगा ।
इस ही प्रसिद्ध द्वीपगत सुविदेहके प्राग् भाग में,
वत्सका देश वहाँ प्रभाकरपुर जहाँ सुर भी रमें ॥६॥

अतिगृद्ध भूप जहाँ कि सार्थक नाम वाला था हुआ,
चौथे नरक पहुँचा कुकर्मी लोभवश जब वह मुआ ।
आकर हुआ घृति शैल पर वह बाघ रुद्र प्रकृतिका,
पशु घातने में चित्त जिसका स्वयं रहता था टिका ॥७॥

बनकेलि करने के लिये था प्रीतिवर्द्धन भूपति,
आया कि तरुकी खोह में बैठे मिले उसको यति ।
था नाम पिहिताश्रव सुभग मासोपवास समाप्त था,
जिनका कि नृप ने मन किया हो पारणा इनका यथा ॥८॥

की घोषणा नृप ने कि देखो आज उत्सव दिवस है,
अतएव सबके घरों पर संगीत होता ही रहे ।
फिर सकल सड़कों पर बिछाये फूल जावें खूब ही,
केवल धरा रहने न पावे पैर धरने को कहीं ॥९॥

जब चले चर्या को कि मार्ग सचित्त देखा तो मुनि,
वापिस वहीं कान्तार में नृप गेह पर आये गुणी ।
मुनि दान के संयोग से थी रत्नवृष्टि हुई जहाँ,
उस बाघ को यह देख जातिस्मरण हो आया वहाँ ॥१०॥

सन्यास उसने था लिया संज्ञात मुनिवर ने किया,
तुम करो वैयावृत्य उसका भूप से था कह दिया ।
यह जीव अष्टम जन्म में आदीश का सुत भरत हो,
षट खण्ड पर अधिकार कर पति बने निर्वृति का अहो ॥११॥

परमेष्टि मंत्र दिया सदय मुनिराज ने उसको अहा ।
दिन अष्टशतक बाघ धर्मध्यानलीन बना रहा ।
ईशान देवस्थान में जाकर दिवाकर नाम का,
वह हुवा देव पुनीत मन अघकर्म अब उसका थका ॥१२॥

देखा जहाँ मुनि दान के माहात्म्य को उस भूप के,
मंत्री पुरोहित सैन्यपति भी थे प्रशंसा कर थके ।
अतएव उत्तम भोगभू में हुए जाकर आर्य थे,
सुख से बिताया काल कुछ न जहाँ दुरित के कार्य थे ॥१३॥

फिर वहाँ से ईशान में जाकर हुए गुणधाम थे,
कनकाभ कनक प्रभंजन एवं प्रभंकर नाम थे ।
हे भूप ! तुझ ललितांग के जो प्रेमपात्र हुए वहाँ,
वे ही दिवाकर आदि आकर मतिवरादि हुए यहाँ ॥१४॥

श्री प्रीतिवर्द्धन भूप तो फिर उन्हीं मुनि के पास में,
दीक्षा धरी निर्वृति वरी न फँसा रहा भवपाश में ।
तुम आदि तीर्थङ्कर बनो ऋषभाख्य भरत क्षेत्र में,
मतिवर तुम्हारा सुत भरत हो दीखता यह है हमें ॥१५॥

यह अकम्पन हो भुजबली जो प्रथम काम कुमार हो,
उस जन्म में ही मुक्ति पावे प्रथम तुमसे भी अहो !
आनन्द हो यह वृषभसेन कुमार तेरा गणपति,
धनदत्त सुत तेरा तथैव अनन्तवीर्य महामति ॥१६॥

श्रीमती भी श्रेयांस बनकर दान तीर्थोदय करे,
फिर उसी भव से मुक्ति रमणीको झगिति यह भी वरे ।
सुख था हुआ इस तरह से सुनकर सभी के हृदय को,
फिर वज्रजंघ नरेश ने पूछा मुनिश्वर सदय को ॥१७॥

ये सिंह शूकर कपि नकुल हो शान्त है बैठे यहाँ,
हे दयासिन्धो ! क्यों गई है क्रूरता इनकी कहाँ ।
क्यों कहाँ से आकर इन्होंने यह अधम पर्याय ली,
सो जानना है चाहती मेरे हृदय की मृदु कली ॥१८॥

इस पर सुमुनि कहने लगे थे सिंह की ऐसी कथा,
था वैश्य सागरदत्त उसकी धनवती भार्या तथा ।
श्रीहस्तपुर में उग्रसेन कुमार उनके एक था,
दुर्व्यसन जिसने बहुत फैलाई प्रजा मे कुप्रथा ॥१९॥

फिर एक दिन नृप कोष में धन चुराने को घुस पड़ा,
पकड़ा गया पीटा गया यो कष्ट पाया था बडा ।
भूभेद कोप समेत आर्त विचार से कि मरा जहाँ,
आकर हुआ हे भूपते ! यह बाघ है वह ही यहाँ ॥२०॥

श्री विजयपुर का महानन्द नृपाल सद्गुण धाम था,
जिसकी प्रिया का है नरेश वसन्त सेना नाम था ।
था पुत्र हरिवाहन कि जो उद्दण्डता का स्थान था,
निज जनक जननी के विनय का भी न उसको ध्यान था ॥२१॥

जो सीख दी जाती सुधा से भी मधुर थी चाव से,
वह जहर से भी अधिक कडवी लगा करती थी उसे ।
अतएव चिड़कर एक दिन वह जब पिता से था भगा,
उस दुरभिमानी का स्वमस्तक अहो खम्भे से लगा ॥२२॥

हड्डी समान कठोरतायुत आर्तभावों से मरा,
आकर उसी ने हे नृवर ! शूकर शरीर यहाँ धरा ।
धन्यापुरी में सेठ सेठानी कुबेरोदर थे,
सुत नागदत्त तथापि जिसके बड़े कुटिल विचार थे ॥२३॥

अपनी बहन को भात देने के लिए जब था गया,
दी वहां एक महाशलाका उसे इसने स्फुटतया ।
जिसमें कि नृप का नाम था अतएव झट पकड़ा गया,
सरकार के मानवों द्वारा काठ में जकड़ा गया ॥२४॥

होने लगी उस पर पिटाई मन बड़ा दुःखित हुआ,
अविश्रङ्ग जैसे कपट वाला वहाँ पर वह जो मुआ ।
आकर वही वानर हुआ यह पाप भावों की धरा,
अब नकुल का वृत्तान्त भी तुम चित्त दे सुन लो जरा ॥२५॥

था सुप्रतिष्ठक नगर में जिसका कि लोलुप नाम था,
मिष्टान्न करके बेचना जिसका कि केवल काम था ।
अब नगरनायक था स्वयं जिन भवन बनवाने लगा,
अब उस नगर के भाइयों का भाग्य था सहसा जगा ॥२६॥

श्रमकार जो था एक उसकी ईंट ढोने में लगा,
पूवे दिये कुछ और ईंट ली उसी से कर दगा ।
भट्टी बनाने के लिए तोड़ी कनक उनमें मिला,
अब तो मिठाईकार का मन वहाँ भीतर से खिला ॥२७॥

मानों कि दीनदयाल आये दीन के हो हाथ में,
अतएव ऐसा रोज होने लगा उसके साथ में ।
अब उस मिठाईकार को जाना कहीं अन्यत्र था,
तब निज तनुज को कह गया ईंट लेने की कथा ॥२८॥

सुत ने प्रमाद किया कि ईटें नहीं ले पाई जहाॅ,
आया मिठाईकार वापिस खूब रोया फिर वहां,
पीटा तनुज को वृत्त यों खुल गया नृप के पास भी,
उसने मिठाईकार को इम पर किया दण्डित तभी ॥२९॥

वह चक्रमल सम लोभ से रंगे हुए मन-का यहाँ,
आकर हुआ यह नकुल जिसका आर्तभाव रहा वहाॅ ।
हाॅ आज इन सबने यहाॅ जातिस्मरण है पालिया,
दानानुमोदन भी इन्होंने सत्य मन से है किया ॥३०॥

ये भी तुम्हारें साथ पावे भोगभू मे नरगति,
अब से बनो तुम आठवें भव में कि तीर्थङ्कर पति ।
तब सब तनय होकर तुम्हारे मुक्ति को पावे सही,
मै कह रहा हूॅ भूपते ! इसमें जरा संशय नहीं ॥३१॥

यह सुन सभी खुश हो चले थे खूब अपने चित्त मे,
पा चुके हो अधिकार मानों निस्व समुचित वित्त में ।
मृदु वचन वर्षाकर झटिति मुनिमेघ तो थे चल दिये,
भूपादि चातक तुल्य सस्मृति हो रहे अपने हिये ॥३२॥

फिर पुण्डरीकोदारपुर को कर दिया प्रस्थान था,
पाथेयकीसी भाॅति उनने लिया श्री जिननाम था ।
कुछ दिवस मे ही पहुंच पाये थे यथेष्ट स्थान को,
पाया वहाॅ के मानवों द्वारा बहुत सम्मान को ॥३३॥

शोकातुरा लक्ष्मीमती को उचित सम्बोधन दिया,
उसके वृहत्तम राज्य को था पूर्ववत् सुस्थिर किया ।
राजा रहा वह पुण्डरीक न और कोई था जहां,
मंत्री किया अपना कि जिससे काम हो सुन्दर वहाँ ॥३४॥

गुणवान लोगों को उचित सम्मान दे अपना लिया,
सामन्त शूरोदार लोगों को सुसन्तोषित किया ।
सामान्य जनता से कहा कि न दूर मुझको मानिये,
हूँ आपके ही पास ऐसा आप मन में जानिये ॥३५॥

कुछ समय तक ले पुण्डरीक सुगन्ध उत्पल खेट को,
चल पड़ा वापिस था अलीनतया नृपति तव भेट को ।
आई प्रजा थी हर्षधर मानों घनागम ही हुआ,
उत्तम मयूरी को तथा मिल गया भूखी को पुआ ॥३६॥

वह वैरिवारण के लिए हरितुल्य था सहसा बना,
सुविनीत लोगों के लिए उत्थान दायक सन्मना ।
श्रीमति के मुखपद्म का अलितुल्य हो मनभावना,
नृप जो प्रजा के कण्ठ का था कुसुमदाम सुहावना ॥३७॥

हो भोगियों का भी शिरोमणि नगरनायक था रहा,
वह दानवानों का प्रवर भी था न मद धारक अहा ।
जो मत्स्यवृत्ति विरोधकर भी धीवरों का अधिपति,
ऐसे विलक्षण भावयुत जग में सुलक्षण सम्मति ॥३८॥

फलती रही जिसके लिये अनुकूल पुण्य परम्परा,
इच्छानुसार पदार्थ सब यह उगलती थी उर्वरा ।
था महल ऐसा एक जिसमें बना सुन्दर चत्वरा,
सरदी न गर्मी जहां उसको लगा करती थी जरा ॥३९॥

मणिमय जहाँ उद्योत सन्तत बना रहता ही रहा,
जिसकी कि महिमा भोगभू से नहीं कमती थी अहा ।
रमता रहा श्रीमती पुष्टपयोधरा के साथ में,
नीरोग वह उस महल में था सुकृत जिसके हाथ में ॥४०॥

अब एक दिन दी अनुचरों ने धूप शयनागार में,
खोली नहीं फिर खिड़कियां अतएव धूँआदार में ।
सोए हुए उस मिथुन का था धूम से दम घुट चला,
जो भोग सुख का हेतु था आई उसी पर से बला ॥५१॥

उस पास ही पशुगेह था सिंहादि चारों थे जहाँ,
उस धूम के ही जोर से प्राणान्त हो पाये वहाँ ।
इस ही सुजम्बूद्वीप के उत्तर कुरुस्थल बीच में,
ये छहों जा पैदा हुए जिनवर बताते हैं हमें ॥४२॥

रहती वहाँ पर नित्य उत्तम भोगभूमि सुहावनी,
मिलती सतुरुओं से अभप्सित भोगसामग्री घनी ।
पट, वाद्य, भूषण, खाद्य भाजन, मद्य, गृह, दीपक तथा,
शुभ दाम एवं ज्योति की जिनसे हुआ करती प्रथा ॥४३॥

ये दश तरह के कुज वनस्पतिकायहोते हैं नहीं,
देवाधिकृत भी नहीं केवल तदाकार बनी मही ।
तादृश सुकृत के योग से उन तनुधरों के कल्पको,
पाकर फला करते स्वयं ये निज निजोक्त विकल्प को ॥४४॥

रवियोग से आतसी शीशा आग देता है यथा,
शशि साख से शशिकान्त में से जल झरा करता तथा ।
इस ही तरह से और भी सब पुद्‌गलों की प्रक्रिया,
दुष्कृत सुकृत से हुआ करती अप्रिया अथवा प्रिया ॥४५॥

होता नहीं है भोगभू मे रात दिन का भेद भी,
वर्षादि ऋतुओं का परिक्रम भी नहीं होता कभी ।
होता जहाँ पर काल का परिणाम सौम्य सुहावना,
उन पुण्यवानों के लिए कोई न दुःखद साधना ॥४६॥

बालक सुभग, शुभ बालिका दो साथ में ही जन्म लें,
माता पिता उस ही समय परलोक को जावें चले ।
होवे न कोई रोग बाधा, उबासी या छींक से,
कर्पूरवत् तनु विघट जावे जबकि चेतन चल बसे ॥४७॥

निज हाथ के अंगुष्ठ को चूषते रह दिन तीन में,
हो रहे बैठा शिशुयुगल फिर आप ही दिन तीन में ।
लड़खड़ा कर चलने लगे फिर बोलने भी वे लगे,
भगने लगे फिर कलायें भी चित्त उसके में जगे ॥४८॥

यौवन धरे फिर तीन दिन में एकविंशति रोज में,
दाम्पत्य धरकर परस्पर रहने लगे वे मौज में ।
होंवे न कोई भी उपद्रव आमरण शोक न कदा,
दुष्ट प्रयोग नहीं कभी कुछ इष्ट में फिर आपदा ॥४९॥

हो तीन पल्यों की उमर फिर तीन कोशोन्नत तनु,
है तीन दिन के बाद भोजन किया करते आजनु ।
आलस्य निद्रादिक न जिनके देह में होवे कभी,
उत्तम सुडोल शरीर उगते रविप्रभ सम हों सभी ॥५०॥

चोरी न जारी वंचना का नाम तक भी है नहीं,
कोई किसी का प्राणीपीड़क फिर वहाँ हो क्यों कहीं ।
सौहार्द होता है परस्पर में अटूट वहां सदा,
इस तरह से है स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर सम्पदा ॥५१॥

उस जगह पर वह पहुँच पाया वज्रजंघ नरेश था,
सुनिये महाशयजी कि उत्पलखेट में बीती कथा ।
सचिवादि चारों जीव भूप वियोग में दुःखित बड़े,
थे हुए ताकि विरक्तता पर चित्त उनके आ अड़े ॥५२॥

सोचा कि जग का ठाठ सारा कमल दल जलतुल्य है,
श्रीज्ञानियों के चित्त में इसका न कोई मूल्य है ।
मोही मनुज ही स्वप्न से साम्राज्य में खुश हो रहे,
बालक यथा गज बैल घोटक खिलौनों को ही कहे ॥५३॥

है सार इस संसार में यह नर न भोगों में फँसे,
जो चाहता हित आपका क्यों वृथा दल दल में धंसे ।
यों सोचकर फिर भूप के ही वज्रबाहु कुमार को,
राज्य का सारा भार देकर चल दिये कान्तार को ।।५४।।

दृढधर्म गुरु के पास जाकर वहाँ मुनिपद था लिया,
उत्साह पूर्वक उन नरों ने बहुत दुर्धर तप किया ।
सन्यास पर्वक देह तजकर अधोग्रैवेयक गये,
तेईस सागर तक जहाँ पर ठाठ नित्य नये नये ।।५५।।

दोहा

करणी के अनुसार नर, फल पावे जग बीच ।
सुकृत किये सुरपद धरे, दुष्कृत से हो नीच ।। ५६ ।।

卐 तीसरा अध्याय समाप्त 卐

卐 चौथा अध्याय 卐

सुकृतोदय की बात एक फिर और यहां बतलाऊं,
पुण्य जनों के पुनीतपन को कैसे कहो भुलाऊँ ।
मनभौरेको कुवृत्तकी बदबू से क्यों न बचाऊँ,
सुकथा मधुर मंजरी की खुशबू से इसे रिझाऊँ ।।१।।

वज्रजंघ चर आर्य आत्मपत्नीयुत बैठा ही था,
उसके साथ मनोरंजक बातों में जिसका जी था ।
कल्पवृक्ष तले कि इतने में ऐसा हो पाया,
सूर्य प्रभ सुर का विमान आकाश में वहाँ आया ।।२।।

जिसे देखकर उन दोनों के मन ने प्रकाश पाया,
अपने अपने पूर्व जन्म का उन्हें स्मरण हो आया ।
सोचने लगे मुनियों को था दान दिया सुखकारी,
उसी पुण्य के फल से हमने देह यहाँ यह धारी ।।३।।

इतने में ही वृत्त एक फिर और हुआ गुंणकारी,
ताकि खीर में खांडकी कहावत हुई वहां जारी ।
दो चारण मुनिराज गगन से आते दिये दिखाई,
परोपकार वारिधारा जिनके मानस की साई ।।४।।

जिन्हें देखकर वे दोनों ही मन में थे हुलसाये,
नमकर उनके चरणों में श्रद्धा से फूल चढ़ाये ।
और कहा हे प्रभो ! कौन हैं ? आप कहाँ से आये ?
जिन्हें देखकर तनु मेरे में हर्षाकुर हो पाये ।।५।।

आर्य पुरुष के इसी प्रश्न पर उत्तर था यों आया,
मानों केकि वाक्य से घनने जल ही तो बरसाया ।
सुनो भद्र तुम जहाँ महाबल नाम भूप हो आये,
स्वयं बुद्ध मंत्री था मैं तुम मेरे नाथ कहाये ।।६।।

चले गये स्वर्ग को जबकि तुम, तज हम सबको प्यारे,
मेरा चित्त उदास हो रहा था वियोग के मारे ।
जिनदीक्षा देवी को सेवा कर फिर थी बतलाई,
उससे प्रसाद रूप में मणिचूलामरता अपनाई ।।७।।

एक जलधिकी आयु आर्यवर ! मैंने वहाँ बिताई,
जम्बूद्वीप प्रागविदेह में फिर यह नर तनु पाई ।
पुष्कलावती देश जहां पर पुण्डरीकिणी नगरी,
भूपति है प्रिय सर्वसुन्दरी प्रिया अमर के अमरी ॥७॥

प्रीतिंकर मैं सुत उनका हूँ प्रीतिदेव लघु भाई,
यह हमने जा स्वयं प्रभु निकट जिनदीक्षा अपनाई ।
तपबल से चारणर्द्धि अवधिज्ञान हमें हो आया,
जिससे देखा स्पष्ट कि तुमने यहाँ जन्म है पाया ॥९॥

हम आये हैं आज ताकि यह काललब्धि है तेरी,
हो जावे सम्यक्त्व तुझे तो मिट जावे भवफेरी ।
यद्यपि आर्य ! महाबल भव में धर्मभाव था पाया,
फिर भी सम्यग्दर्शन तूने नही वहाँ अपनाया ॥१०॥

जिसके बिना नहीं हो सकता इस जग में निस्तारा,
शिव पथ का पहिला पद है यह भव्यजीव का प्यारा ।
उसका है स्वरूप कैसा सो अब मैं बतलाता हूँ,
भ्रम से हुए चित्त तेरे को सत्पथ पर लाता हूँ ॥११॥

नित्य बोधमय अमूर्त चेतन, जड़ मूर्तिक पुद्गल है,
समायोगवश चिर से जिसमें यह आपा मानि रहे ।
अतः उसी की चिंता में परतन्त्र दुःख का घर है,
चेतन जीने मरने में यह ताकि हुआ तत्पर है ॥१२॥

हाँ यदि ऐसा समझ ले कि यह शरीर मुझसे पर है,
सारी दुनियादारी का नाता भी यह जिस पर है ।
तो फिर रोष तोष किससे क्यों करे यही सम्वर है,
चेतन सहजतया बन जाता जब समता का घर है ॥१३॥

निस्सनेही से प्राघूर्णिकवत् दूर टरे फिर न रहे,
वर्तमान तनु भी बन जाता जन उत्तम निर्जर है ।
केवल बोध निधान कहो अब धरे देह यह कैसे ?
मुक्तिकान्त हो रहता है परमात्मा बनकर ऐसे ॥१४॥

अवतारादि दूषणोंवाला हो जोत हम तुम जैसा,
खुश होकर वर देने वाला भी परमात्मा कैसा ।
सम्यग्दृष्टि पुरुष के मन में दृढ़ विचार हो ऐसा,
रागरोष के अधीन तो संसारी ही है वैसा ॥१५॥

देव वही कहला सकता है निरीहता का स्वामी,
स्वतंन्त्रता संदेशक जो सच्चिदानन्द का हामी ।
सबको हो देखता, न उसको कोई भी देख सके,
दृक् से केवल मन से जिसको योगी पहिचान सके ॥१६॥

उन योगीश्वर लोगों की महिमा क्या कह बतलावें,
सुरगण भी जिनके चरणों में नतमस्तक हो जावें ।
जो निर्ग्रंथ दिगम्बर हों जग में गौरव पाते हैं,
सदा त्याग का आदर्श हमें बनकर बतलाते हैं ॥१७॥

निस्पृहता के भक्त, तज दिया जिनने जग का धन्धा,
राग न रोष किसी से केवल आत्म तत्व की सन्धा ।
सतत किया करते हैं ऐसे समता रस के स्वादी,
दर्शन भी उनका लोगों के लिए शर्म सम्वादी ॥१८॥

टोंणा टामण कर लोगों को जो फुसलाने वाला,
गांजा सुलफा आदि पान से जिसका दिल हो काला ।
मन जिसका न जरा भी वश में केवल कर में माला,
साधु कहा सकता है कैसे वह ऐसा मतवाला ॥१९॥

बिना त्याग के क्या कोई पा सकता है आजादी,
तेरा मेरा करने में है जगभर की बरबादी ।
अहो ! त्याग ही सिर्फ जीव के लिये शांति का दाता ।
और न कोई धर्म जो कि बन रहै विश्व का त्राता ॥२०॥

गंगा स्नान न वृष न कहीं जाना ही देखो वृष है,
मूंड मुंडाना न वृष है और न शिखा रखवाना वृष है ।
नहीं तिलक छापादिक में भी कोई समुचित रस है,
धर्मभाव है वहाँ मोह ममता यदि कुछ भी कृश है ॥२१॥

ऐसा दृढ विश्वास बने वह ही सम्यग्दर्शन है,
जिसके बिना जीव संसारी यह नाना कष्ट सहें ।
इसका धारक जो कोई नर वह हो निःशङ्क रहे,
उसके लिये यहाँ कोई क्या इस जग में फिर डर है ॥२२॥

क्योंकि न उसके व्यर्थ भोग की वांछा कुछ होती है,
समयानुकूल चलकर उसकी मति समता ढोती है।
जीव मात्र के प्रति जिसकी दिल से सखिता होती है,
दुःखी देख किसी को भी तब चित्तवृत्ति रोती है ॥२३॥

गुणवानों को देख गुणों में उनके रुचि लाता है,
नहीं किसी के समुत्कर्ष में ईर्षा बतलाता है।
घृणा किसी से भी करने को अनर्थ वह है कहता,
संक्लिष्टों की सेवा करने में तत्पर हो रहता ॥२४॥

यदि कोई विपरीत मार्ग का प्रेरक बन आता है,
तो उस समय चित्त अपने में यह विचार लाता है।
कोई कुछ भी क्ररे न मेरा इसमें कुछ जाता है,
मैं उस पर हूँ बना हुआ दृढ़ जो मुझको भाता है ॥२५॥

नहीं किसी के दुर्गुण पर भी कभी रोष लाता है,
प्रत्युत उसके बदले में वह गुण कर बतलाता है।
ऐसे व्यवहार द्वारा पर भी उसका हो रहता,
कोई भी न उसे भूतल पर दुराराध्य है कहता ॥२६॥

अनायास ही मनतुरङ्ग जो उछल कूद करता है,
अनुशासन कोड़े को भी कुछ कभी नहीं धरता है।
उत्पथ में वह चला गया हो अपना भी परका वा,
उसे मार्ग पर लाने को जो करता है उपजावा ॥२७॥

क्योंकि सभी जीवों पर उसकी मृदु प्रीति होती है,
यथासाध्य मा बच्चों का जैसे संकट खोती है ।
अगर उन्हें उदास देखे तो मर पूरा देती है,
उसको चैन न दे सके वहाँ तक क्या दम लेती है ॥२८॥

धर्म कुसुम की सरस सुरभि को फैलाने वाला हो,
हवा की तरह जिसका मन निर्द्वन्द्व अहो ! दृढ़ वा हो ।
सब जीवों को संजीवन दायक हो जिसकी सत्ता,
उस सुदृष्टि की इस भूतल पर हो प्रख्यात महत्ता ॥२९॥

परमोच्च कुलोत्पन्न किन्तु अपने को उच्च न कहता,
कला कुशल होकर भी खुद को विकल मानता रहता ।
अपने तन मन धन बल का भी नहीं भरोसा करता,
निरभिमान बन वृद्धों की सेवा में दिल है धरता ॥३०॥

फलवत्ता चारित्र कुसुम के बिना न हो सकती है,
फिर भी वृष रुकी जड़ तो श्रद्धा हे आर्य ! सती है ।
जिसके हृष्ट पुष्ट होने पर उसकी छाया महती,
इस तनुधारी के लिये सदा सुखदायक हो रहती ॥३१॥

सम्यग्दर्शन धारण करना आर्य ! कार्य है तेरा,
जिसके लिए यहाँ आकर अनुरोध सिर्फ है मेरा ।
आर्य ! तू भी ग्रहण कर इसे जिससे न स्त्रीपन हो,
अब से आगे पौरुष पाकर ताकि मुक्ति भाजन हो ॥३२॥

पशु नारक पर्यायोपार्जन करे नहीं सम्यग्दृष्टि,
हीनकुली विकलांग दरिद्र न होता वृषारम्भसृष्टि ।
इन्द्र महेन्द्र सुरालय में जाकर होता वह सज्जन है,
तीर्थङ्कर चक्री बलदेवादिक पर आकर यहाँ गहे ॥३३॥

मुनिचन्द्र की इन वचन किरणों से हृदय का तिमिर था,
वह दूर हो उन दम्पती की हो रही सम्मति तथा ।
सिहादि चर उन चार आर्यो ने सुना उपदेश को,
वम दिया उनने भी तभी मिथ्यात्व विष के लेश को ॥३४॥

दोहा

सबने मिलकर तब किया, मुनिजी का सम्मान ।
जिनके शुभ संसर्ग से पाया सम्यग्ज्ञान ॥३५॥

इस संसार समुद्र मे श्रीगुरु पोत समान ।
आप तिरे फिर और को भी तारे गुणवान ॥३६॥

सार्थवाह शिव नगर के करुणा के भण्डार ।
बिना प्रयोजन जो करे औरों का उपकार ॥३७॥

योग धुरन्धर ये कहाँ कहाँ भोग भू स्थान ।
हम पर करुणा कर जहाँ आये चतुर सुजान ॥३८॥

चिन्तामणि या कल्पतरु आदि अनेक पदार्थ ।
हैं यद्यपि इस जगत में पर के उपकारार्थ ॥३९॥

फिर भी श्रीगुरेदव की महिमा अपरंपार ।
हमसे पामर का सदा जो कि करे उद्धार ॥४०॥

पथ प्रदर्शक सूर्य भी है इस जग के बीचि ।
किन्तु निशा होती जहाँ उसकी कहाँ मरीचि ॥४१॥

और किसी सदुपाय से जो न हो सकी दूर ।
जिसके चक्कर मे कि हम दु खी थे भरपूर ॥४२॥

मिटी आज है सहज से वह अनादि की भूल ।
ली ऐसे सुविचार से मुनि चरणों की धूल ॥४३॥

धर्मामृत वर्षा चले मुनिवर मेघ समान ।
आर्य चित्त चातक रहे स्मरते उनकी आन ॥४४॥

आयु पूर्ण कर थे गये सभी स्वर्ग ईशान ।
वज्रजघ चर था हुआ श्रीधर सुर मतिमान ॥४५॥

आर्या जो थी श्रीमती उसने वहाँ ललाम ।
देवदेह पाया अहो हुआ स्वयंप्रभ नाम ॥४६॥

आर्य सिह चर जो हुआ चित्रागद था देव ।
अणिमादिक बहु ऋद्धियाँ स्फुरित हुई स्वयमेव ॥४७॥

जो वराहचर आर्य था वह जाकर गुणधाम ।
नन्द विमानाधिप हुआ मणिकुण्डल शुभ नाम ॥४८॥

बानर चर जाकर हुआ वहाँ मनोहर देव ।
नन्द्यावर्त विमान में कृत जिनवर पद सेव ॥४९॥

देव मनोरथ था हुआ नुकलचर आय ।
प्रभाकराख्य विमान में करता रहा सुकार्य ॥५०॥

षट् द्रव्यो की भाँति सब रहे मेल के साथ ।
श्रीधर जीव समान था उनमे सुकृत सनाथ ॥ ५१ ॥

卐 चतुर्थ अध्याय समाप्त 卐

卐 अथ पंचमोध्यायः 卐

सुनिये पाठक आज हुआ क्या और अगाड़ी,
मन भौरे के लिए खिली मानो फुलवाड़ी ।
प्रीतिकर मुनि अहो । केवली थे हो पाये,
ध्यानवह्नि से दुरित दारुगण सकल जलाये ॥१॥

समाचार था ज्ञात किया जब उन लोगो ने,
प्रसन्नता अपनाई थी उनके योगों ने ।
आये परिकर सहित केवली के पूजन को,
जिन दर्शन कर धन्य किया अपने जीवन को ॥२॥

हाथ जोड़ था श्रीधर ने उनसे फिर पूँछा,
मैं था जबकि महाबल भोगो मे दृढ़ मूछा ।
मन्त्रीत्रय जो मुझे वरगलाया करते थे,
कुयुक्तियों से मेरे वृषधन को हरते थे ॥३॥

दीनदयालो ! उनकी कैसी हुई अवस्था,
सुनना हूँ चाहता आपसे यही व्यवस्था ।
तब जिनवर की थी दिव्यध्वनि ऐसे आई,
उनमें से दो ने तो है निगोद अपनाई ॥४॥

गात्रमात्र ही जहाँ रहे परिचय करने को,
पलभर मे भी कई बार फिर फिर मरने को ।
नहीं जीव जनता की निगाह मे कहने को,
अत दया का पात्र भी न सुर वर । रहने को ॥५॥

की गई हुई निर्दयताका फल भरने को,
दु·खोदधि से किमपि उपाय नहीं तरने को ।
अब तो उनके पास मे अहो ! रहा वहाँ है,
चिर तकभी मानव तनु उनके लिए कहाँ है ॥६॥

उन दोनो ने भववारिधि मे खाया गोता,
और यहाँ तुम सुनो कि जिसका दिल है रोता ।
शतमति नामक तीसरा सचिव था जो तेरा,
शर्कराख्य नरक मे जा किया उसने डेरा ॥७॥

इस भूतल के नीचे नीचे सात नरक हैं,
रौद्र कर्म कारक पाशय जहाँ जा रहै ।
मधु छत्तावत उत्पत्ति स्थानक हैं कि जहाँ,
मुहूर्त भर में घृणित देह धर हो रहे वहाँ ॥८॥

नीचे मुँहकर गिरे भूमि पर टक्कर खावे,
उछल गेन्द की तरह फिर महीतल तक जावे ।
इतने में आ इतर नार की चोट लगावें,
हाय हाय कर बुरी तरह से तब चिल्लावे ॥९॥

खण्ड–खण्ड हो रहे मार खाकर मुद्गर की,
पारावत मिल जाय देह फिर उस अघघर की ।
देख दु·ख ऐसा यद्यपि मरने को मन हो,
आयु अन्त तक किन्तु न उनका मरण हो अहो ॥१०॥

एक तीन ऋषि दश सतरह बाईस तथा वा,
तेतीसाब्धिप्रमित घोर अघका हो धावा ।
उन नरको की दु खदता को कैसे गाऊँ,
कौन चीज है यहाँ जिसे उपमेय बनाऊँ ॥११॥

जहाँ भूमि को छूने से हो ऐसी पीड़ा,
मानो हजार डक दे गया बिच्छू कीडा ।
मेरु तुल्य भी लोह पिण्ड यदि डाला जावे,
गर्मी सरदी वहाँ उसे क्षण में पिघलावे ॥१२॥

यहाँ वहाँ की मिट्टी का कण भी आ जावे,
बदबू से कोशो का देहि वर्ग मर जावे ।
इतनी प्यास लगे कि सिन्धु का जल पी जावे,
फिर भी उसको जल की बून्द कहीं क्या पावे ॥१३॥

इसी तरह से भूख जोर की वहाँ सतावे,
भू भर का हो अन्न किन्तु कण भी क्या पावे ।
एक साथ ही रोग अनेक जहाँ होते हैं,
जिनके नाम मात्र से मानवगण रोते हैं ॥१४॥

क्षेत्रज और शरीरज ऐसे घोर कष्ट से,
व्याकुल होकर नारकी रहे पथभ्रष्ट से ।
क्रूरभाव को लिये हुए जिनकी चित्त मही,
लड़ते रहते हैं आपस मे निर्निमित्त ही ॥१५॥

हो अनेक सम्मिलित एक को गिरि से ठेले,
अथवा निर्दय हो उसको कोल्हू मे पेले ।
अग अंग में ठोक बहुत सी उसके कीले,
या कुठार से काठ की तरह उसको छीलें ॥१६॥

काट काट कर मांस उसी का उसे खिलावे,
खाया था स्वादिष्ट मांस यह याद दिलावें ।
देखा यह है मघ शराबी को बतलावे,
ताम्बे का सन्तप्त रस उसे वहाँ पिलावे ॥१७॥

परनारी को देखो तो कैसे कि पटावे,
यो कह झट लोहे की पुतली से लिपटावे ।
असत्यवादी की जिह्वाको खैच दिखावें,
परधनहर के हाथ काट मुँह फाड़ खिलावें ॥१८॥

झीमर को वैतरणी में मज्जन करवावें,
चर्मकार की चमड़ी लेकर भुस भरवावें ।
वनचर को असिपत्र विपिन मे खूब फिरावें,
तरुदल उसके देह को कि झट काट गिरावें ॥१९॥

ऐसे एक दूसरे को सब कष्टप्रद हो,
कोई भी न वहॉ उन पर फिर करुणाकृद हो ।
कोई करना चाहे तो भी ढाल न होवे,
हो तलवार कठोर ताकि वह पिटकर रोवे ॥२०॥

ऐसे हो विक्रिया बुरी उनके शरीर की,
क्योकि न उनकी पापवासना है जरा थकी ।
अवधिबोध भी पूर्व बुराई को पहिचाने,
नही किसी की हुई भलाई को वह जाने ॥२१॥

ऐसे जहॉ कि मार काट सन्तत चलती है,
पल भर को भी न बुद्धि न समता पर ढलती है ।
वहॉ पा रहा वह फल अपनी करणी का है,
हे श्रीधर जिस पर विचार तेरे जी का है ॥२२॥

यदि चाहो तो जाकर तुम उसको समझाओ,
स्वामिपना उस पर पूरा यों कर दिखलाओ ।
यह सुनकर वह चला वहां से स्नेहांचित हे,
और वहॉ जा बोला देखो कौन हूँ कहो ॥२३॥

हे शतमते ! महाबल मुझको तुम पहिचानो,
अब भी मैं जो कहूँ उसे तुम मन से मानो ।
तुम थे भ्रष्ट विचार ताकि ऐसे हो पाये,
स्वयं बुद्ध हो प्रीतिंकर केवली कहाये ॥२४॥

नित्य ज्ञानानन्द फन्द में इस पुद्गल के,
चेतन उलझा हुआ न अपना रूप पा सके ।
जन्म मरण इस जड़ के वश मे हो पाता है,
अग्नियोग से जल जैसे कि उबल जाता है ॥२५॥

गर्म हो रहेजल पावक के सम्प्रयोग से,
रागरोषमय चेतन पौद्गलिकोपभोग से ।
पावक परसे मित्र ! दूर यदि जल हो जावे,
क्षणभर के बाद में स्वय शीतल फिर पावे ॥२६॥

वैसे ही यह जीव अगर उपयोग हटावे,
अपने इस पुद्गल की कुछ भी याद न लावे ।
तो मुहूर्त मे हो रहे अहो ! सकलज्ञानी,
कोपादिक मिटकर निज निर्मल भाव निधानी ॥२७॥

करना तो इस बात का अहो ! दूर है अभी,
किन्तु मानता भी न इसे यह मूढ है कभी ।
यह तो पुद्गल को ही है निजरूप मानता,
पुष्ट इसे करने की बहुत अनर्थ ठानता ॥२८॥

इसीलिये नाना कुयोनियों में जाता है,
जहाँ कि वचनातीत घोर संकट पाता है
जैसा तुम खुद मित्र यहाँ अनुभव करते हो,
बार बार मुद्गरादि से तुम पिट मरते हो ॥२९॥

मेरा कहना है कि सुघड़ अब भी तुम चेतो,
चित्त तुम्हारा यदि इस पर विश्वास करे तो ।
आगे को दुर्गति में जाकर विकल न होओ,
मानवता पाकर अपना तुम संकट खोओ ॥३०॥

काललब्धिवश उसने भी वह सीख मान ली,
इस भववारिधि मे नौका समझो कि थी भली ।
आयु पूर्णकर अत वहाँ का नरतनु पाया,
पुष्करनामा द्वीप तीसरा यहाँ बताया ॥३१॥

उसके प्रथम मेरुकी पूर्वविदेह स्थल में,
मगलावती देश बताते जिनराज हमें ।
मणिसचयपुर वहाँ महीधर नाम भूप था,
राणी थी सुन्दरी रूपगुण में कि रति, यथा ॥३२॥

उसके आकर पुत्र हुआ जयसेन नाम का,
आह्लादक जिसका देह यथा शीतधाम का ।
वह नवयौवन हुआ बात शादी की आई,
तो श्रीधर सुर आकर बोला देखो भाई ॥३३॥

भूल गये तुम उन नरको के दुःखों को भी,
ताकि आज फिर शीघ्र हुए विषयो के लोभी ।
इतना सुनते ही कि याद उसको हो आई,
बात पुराणी विरागता की बनकर साई ॥३४॥

गेहवास तो नरक और वैतरणी वनिता,
दीखने लगी उसको थी फिर जग में घृणिता ।
क्योकि जहाँ थी रात वहाॅ अब दिवस हो रहा,
भोगसुख इसे दीखने लगा दु.खप्रद हा ॥३५॥

यमधर मुनि के पास धरी जिनदीक्षा इसने,
तप संयम शीलादि गुणो में भाव थे सने ।
ध्यानाध्यायनाधीन चित्त हो श्री गुरु सेवा,
करने लगा मोक्षपुर पथ का गिनकर मेवा ॥३६॥

अहो ! कुमार श्रमण रूप मे दिवस बिताये,
रति पति के शर जिसके आगे काम न आये ।
हरिहर ब्रह्मादिक को जिनने मार भगाये,
श्री जिनसेवी के सन्मुख कुण्ठित हो पाये ॥३७॥

मुक्त कण्ड से कहती जिसको जहांन रमणी,
याद न उसको करता था वह अहो ! नरमणि ।
जिसे कुमार से मार भी स्वयं डर पाया था,
सहसा ब्रह्मचर्य जिसमें बल आया था ॥३८॥

यथाजात रहकर था सारा जन्म बिताया,
अन्त समय में ब्रह्मलोक था जा अपनाया ।
और न कोई स्थल था उसको यतः सुहाया,
इन्द्र वहाँ का हुआ धर्म का वैभव पाया ॥ ३९ ॥

दोहा

जाना अवधिज्ञान से श्रीधर का उपकार ।
अतः उसे गुरु मानकर, किया बहुत सत्कार ॥४०॥

उपकारी को मानना, सबसे पहिला धर्म ।
जिसके अनुचर रूप है और सभी शुभ कर्म ॥४१॥

卐 पञ्चम अध्याय समाप्त 卐

卐 छठा अध्याय प्रारम्भ 卐

अब आगे चलिये कि जहाँ सद्धर्म सदा रहता है,
वृद्धों का समुदाय महावत्सा जिसको कहता है ।
इसी द्वीप के प्राग् विदेह में प्रान्त एक है नामी,
पुरी सुसीमा जहा लोग हैं सुघड़ गुणों के स्वामी ॥१॥

सुदृढ़ नाम था भूप वहाँ का नन्दा उसकी राणी,
कोयल से भी मीठी बोला करती थी जो वाणी ।
श्रीधर देव कूख उसकी से अंगज था हो पाया,
शुभ लक्षण सम्पन्न सुविधि जिसका कि नाम ठहराया ॥२॥

चन्द्रतुल्य आह्लादक जिसका सबको देह सुहाया,
क्रमश· बढ़कर आठ वर्ष का जब वह था हो आया ।
अध्यापक के पास उसे था पढ़ने को बैठाया,
थोड़े दिन में ही उसने विद्याबल को अपनाया ॥३॥

जब उसके शरीर में नवयौवन ने ठाठ जमाया,
मानों सरस बगीचे में वसन्तने रग दिखाया ।
उसके मातुल अभयघोष चक्रीकी राजदुलारी,
मनोरमा के साथ विवाह हुआ उसका रुचिकारी ॥४॥

जो कि चादनी चैसी कौमुद वृद्धिकरी थी युवती,
कामदेव के लिए प्रीतिदा जैसे रति रूपवती ।
राजहंस के हंसी जैसी वह हो पाई प्यारी,
इस दुनिया में और नहीं उसके समान थी नारी ॥५॥

दिन सुख में बीतने लगे क्षणतुल्य न चित्त विकल था,
पूर्वपुण्य का उदय और अब भी सुरीतिका बल था ।
इन पुण्याधिकारियों के सुत केशव फिर हो पाया,
वहाँ स्वर्ग ईशान में स्वयप्रभ था जो कहलाया ॥६॥

हुआ प्रभंजन राज प्रियदत्ता राणी के सुत था,
चित्रागद सुर आकर वरदत्ताख्य सुकृत सयुत था ।
नन्दषेण नृप अनन्तमति राणी के पुत्र हुआ था,
मणिकुण्डल सुर आकर सम्वरषेण नाम जिसका था ॥७॥

रति षेणावनिपाल चन्द्रमति राणी के घर पर था,
हुआ मनोहर सुर आकर चित्रांगद नामक सुत था ।
जो कि मनोरथ देव था वही शान्तमदन नाम यहाँ,
हुआ प्रभंजन भूप चित्रमाला राणी के सुत हाँ ॥८॥

इन चारों की प्रीति सुविधि के साथ हुई थी गहरी,
पूर्व जन्म का सुसम्बन्ध ही जिसका कि रहा प्रहरी ।
जिनका मन सद्धर्म कर्म में सहसा रूचि करता था,
आशीविष की तरह पाप के कामो से डरता था ॥९॥

चक्री अभयघोष से भी इनका परिचय हो पाया,
क्योंकि सुविधि के साथ समागम उनका था हो आया ।
अब कुछ दिन के बाद विमल वाहन के समीप दीक्षा,
चक्री ने ली तो इनने भी अपनाई वह शिक्षा ॥१०॥

भोग विलास विहीन योग में इनने चित्त लगाया,
मन मे से था अहो ! काम को सहसा दूर भगाया ।
यथाजात बनकर फिर ये सब करने लगे तपस्या,
किन्तु सुविधि के लिए वहाँ हो आई कठिन समस्या ॥११॥

केशव के प्रति उसे प्रेम था अत: न मुनि हो पाया,
उत्तम गेहिजनों के व्रत लेकर ही समय बिताया ।
गेहिधर्म के ग्यारह पद हैं सच्छ्रद्धा अपनावे,
अन्यायाभक्ष्यादि रहित यह पहिला पद कहलावे ॥१२॥

इसके बिना न गेहिजनों में कभी प्रतिष्ठा पावे,
दुराराध्य होकर वह अपना भव ही व्यर्थ गमावे ।
हाँ इसको अपने जीवन का समलंकार बनावे,
सब लोगों का प्यारा बनकर कभी न दुःख उठावे ॥१३॥

जब ऐहिक सुख के बारे में तोषभाव पर आवे,
मन परलोक सुधार के लिए त्याग मार्ग अपनावे ।
व्यर्थ और घोरारम्भों से वहाँ दूर हो जावे,
तब वह मानव इतर जनों में व्रती गृहस्थ कहावे ॥१४॥

तीन समय जिनवराराधना सुदृढतया फिर करना,
कम से कम एकैक मुहूर्त न उस परसे हो टरना ।
कितना क्यो न कार्य हो तो भी उसमें चित्त न धरना,
ऐसा करने वाला होवे सामायिकी गुणधर ना ॥१५॥

एक पक्ष मे आठैं चौदस दो दिन प्रोषध वारी,
सभी तरह के आरम्भों को तजकर हो अविकारी ।
नियमबद्ध सद्ध्यान आगमाध्ययन करें गुणकारी,
एकान्त स्थल में रहकर वह चतुर्थपद का धारी ॥१६॥

बिना उबाली सब्जी कोई सी भी कभी न खावे,
जल भी प्राशुक ही कर पीवे दया चित्त मे लावे ।
पार्थिव चीजें भी सम्प्रर्दित हो उनको चख पावे,
वह सचित्त का त्यागी ऐसा जिनवाणी बतलावे ॥१७॥

एक मुर्हूत दिवस हो तब से मुर्हूत दिन चढ़ पावे,
तब तक कोई भी चीज न जो अपने मुॅह मे लावे ।
क्योंकि निशा में खावे वही निशाचर नाम धरावे,
ऐसे दिल का धारक हो तब छट्ठे पद पर आवे ॥१८॥

परनारी का त्यागी तो पहिले ही था हो पाया,
अब जिसका दिल और भी अधिक विरागता पर आया ।
अपनी भार्या को भी जो अब बहिन तुल्य बतलावे,
ब्रह्मचर्य का धारक वह नर भूतल पर कहलावे ॥१९॥

जब न रही गृहिणी तो अब फिर किसके लिये कमाई,
की जावे इस तरह चित्त की वृत्ति तोष पर आई ।
सभी तरह का लौकिक धन्धा तज समता अपनाई,
ऐसे जिसने श्रावक अष्टम कहे उसे जिनसाई ॥२०॥

हॉ जब होवे अपरिग्रह नामक पद का यह हामी,
पूर्वोपार्जित वित्त का रहा अब तक तो था स्वामी ।
अब उससे भी ममत्व तजकर दूर यहॉ हो जावे,
केवल शीतनिवारक वस्त्रों का ही धनी कहावे ॥२१॥

यह न हमारे हम इनके तो अब इनसे क्या लेना,
यों कह बुरा हुआ लौकिक कार्यो मे सम्मति देना ।
जिसके लिए वही श्रावक दशवें पद का अधिकारी,
हाँ उद्दिष्टाशन न करे वह अन्तिम सद्गुणधारी ॥२२॥

एक पात्र भिक्षानिमित्त फिर एक वस्त्र हो जिसके,
कटि कौपीन कमण्डलु पीछी और न कुछ भी इसके ।
स्त्री जब तक तब तक जघन्य अपरिग्रह तक हो वर्णी,
उसके आगे श्रावक उत्तम होवे सश्रुत कर्णी ॥२३॥

सुविधि भूपने श्रेष्ठ श्रावक पद में जन्म बिताया,
अन्त समय संन्यास गहा दज दी सब ममता माया ।
जिससे अच्युतेन्द्र का उसने उत्तमपद था पाया,
केशव का भी जनक मरण पर उदास मन हो आया ॥२४॥

मुनि होकर तप किया अतः प्रतीन्द्र हुआ उसका ही,
द्वाविंशति सागर तक उसके समान सुख का राही ।
वरदत्तादिक ने जाकर भी सामानिकता पाई,
उसी स्वर्ग मे क्योंकि अन्त में समाधि थी अपनाई ॥२५॥

अच्युतेनद्र का वैभव जैसा आगम में है देखा,
बतलाना मैं यहाँ चाहता हूँ उसकी कुछ लेखा ।
एक शतक उनसठ विमान हैं इसके अनुशासन में,
रत्नविनिर्मित भिन्न–भिन्न जो अधर विशाल गगन में ॥२६॥

सामानिक सुर दस हजार होते हैं वृद्धों जैसे,
त्रायस्त्रिंश देव तेतीस सचिव हों भूपर वैसे ।
आत्मरक्ष चालीस सहस जो उसका भला मनावें,
लोकपाल हो चार जो वहाँ चौकी सदा लगावें ॥२७॥

प्रत्येक के देवियाँ हों बत्तीस रूपगुबवाली,
जिनके होठों पर चमका करती है सन्तत लाली ।
बाहर से भीतर तक जिसके कि सभायें तीन रहें,
सवासौ तथा ढाईसौ पांचसौ सभासद सुर हैं ॥२८॥

गज, हय, रथ पदाति, वृष, गायक, नृत्यकारिणी सेना,
सात तरह की सात सात कक्षाओं में गिन लेना ।
बीस सहस्त्र आदि कक्षा में आगे दुगुणी दुगुणी,
करते जाना हरेक को हे सुनने वाले सुगुणी ॥२९॥

अच्युतेन्द्र के आठ महादेवियाँ हुआ करती हैं,
जो निजरूप हावभाव द्वारा मन को हरती हैं ।
हरेक के नीचे ढाई सौ ढाई सौ लघुसुरियाँ,
होती हैं पुण्य प्रभाव से जो कि मदन की पुरियाँ ॥३०॥

और हजारों होती हैं उसके श्रीवल्लभिकाये,
भिन्न-भिन्न जो एक लक्ष चौवीस सहस बन जाये ।
महा देवियों के भी होती तीन तीन परिषद् हैं,
पहिली में पच्चीस अप्सरायें सुरूप की हद हैं ॥३१॥

दूजी में पच्चास और तीजी में सौ पहिचानों,
हे गुणवानों पूर्व सुकृत का फल यह ऐसा जानो ।
जिसके बलपर आज अहो ! वह अच्युतेन्द्र हो पाया,
मुक्ति श्रीका वर होने को भी मन में उमगाया ॥३२॥

भूख जिसे बाईस हजार वर्ष पर थी लग पाती,
स्मरण मात्र से अमृत कण्ठ में झरकर थी मिट जाती ।
ग्यारह मास बीतने पर उच्छ्वास जिसे था आता,
दशों दिशाओं को सुगन्धयुत वह झट ही कर जाता ॥३३॥

जिसके तनु से हो रहे, रोग शोक सब दूर,
अणिमादिक गुण सहज से प्रगट हुए भरपूर ।
प्रगट हुए भरपूर भाव थे जिन पूजा के,
नन्दीश्वरादि सुक्षेत्रों में फिर फिर जाके ॥
दिवस बीतने लगे स्वयं सुन्दरतम इसके,
केशवादि चर सुर भी साथ रहे थे जिसके ॥३४॥

卐 छठा अध्याय समाप्त 卐

卐 सातवाँ अध्याय 卐

पाठक ! अब आइये वहाँ फिर पुष्कल तो सुस्थल है,
जम्बूद्वीप प्राग्विदेह का भालतुल्य उज्जवल है ।
पुण्डरीकिणी पुरी तिलक लेखा सम शोभावाली,
शासक था नराधिपति जिसका वज्रसेन गुणशाली ॥१॥

उस राजा की और अधिक मैं महिमा क्या बतलाऊँ,
सर्वोत्तम तीर्थङ्कर पदधारक जब उसको पाऊँ ।
श्रीकान्ता राणी उसकी थी जिसका कि सुयश गाऊँ,
दया धर्म के लिए तथा वह उसके लिये बताऊँ ॥२॥

मन में शांति, कांति जिसके तनु में कि विराज रही थी,
क्या न माधुरी ने जिह्वा को आकर अतः गही थी ।
उदारताने जिसके कर को अपना स्थान बनाया,
लक्ष्मी ने जिसके चरणों को कमल जान अपनाया ॥३॥

प्रागढ़ता ने कुच मण्डल पर अपनी रूचि दिखलाई,
गहराई नाभिस्थल में तो नितम्ब में ऊँचाई ।
ऐसे उसकी ये सब सखियाँ यथास्थान हो पाई,
निम्नांकित बातें भी जग में शरण उसी के आई ॥४॥

कृशता उदर देश में थी तो नयनों में चपलाई,
केशों में श्यामता तथा होठों में हुई ललाई ।
उसके सुवृत्त जानुस्थल पर विलोमता थी छाई,
त्रिवलिच्छल से सुख पूर्वक बन रही सहज कुटिलाई ॥५॥

सोचा इसकी दयालुता से यदि जीवित रह पावें,
तो जगपति के सुयोग को हम सरलतया अपनावें ।
फिर न किसी की भी आँखों में कभी खटकने पावें,
सुस्वामी के सुयोग से किंकर भी सुघड़ कहावें ॥६॥

अस्तु इस तरह वह सरसा उस तीर्थनाथ को भाई,
जैसे सरिता समुद्र के सन्निकट अहो ! हो आई ।
वज्रसेन मुक्तामय था श्रीकान्ता सुवर्णवाली,
सुधांशु का क्षणदा से योग हुआ यों प्रसिद्धि पा ली ॥७॥

सुकृत सरोवर के जो दोनों हंस और हसी थे,
रहे बजाते हुए चैन की सदा मधुर बंशी थे ।
सुतोत्पत्ति की ध्वनि मीठी आई समीप कानों के,
अच्युतेन्द्र वह आकर सुत हो पाया गुणवानों के ॥८॥

जातकर्म का ठाठ वहाँ था हुआ बड़ा रुचिकारी,
देव दानवों द्वारा जिसकी हुई सकल तैयारी ।
वज्रनाभि यह नाम मनोहर दिया गया था उसको,
देख खुशी थी हुई अहो ! जिस पाप द्विरदांकुश को ॥९॥

वरदत्त चरादिक सामानिक सुर भी अनुज इसी के,
क्रमशः आकर हुए कि जिनके रहे हृदय थे नीके ।
विजय वैजयन्त च जयन्त अपराजित सज्ञा पाई,
चतुर्वर्ग की तुल्य सहज से ही रुचि थी अपनाई ॥१०॥

मतिवर चरादि सुर वर चारों प्रथम ग्रैवेयक से,
आकर अनुज हो रहे इनके इसी तरह थे क्रम से ।
भूपर बाहु सुबाहु पीठ फिर महापीठ कलहाये,
सभी सुलक्षण जिन्हे देख जनता के चित्त लुभाये ॥११॥

सेठ कुबेरदत्त ने पुर में अति प्रतिष्ठा ली थी,
अनन्तमति सेठाणी जिसके भली रूपवाली थी ।
दोनों का था चित्त एक जैसा चकवा चकवी का,
ध्यान रखा करते थे श्रीमज्जिनवर दिनकरजी का ॥१२॥

सोलहवें स्वर्ग का उपेन्द्र हुआ आकर सुत उनके,
जिसने पापतूल को दूर भगाया मन से धुन के ।
हुआ सुलक्षण और सुन्दराकार देह का धारी,
था धनदेव नाम जिसका कानों को अति सुखकारी ॥१३॥

वज्रनाभि आदिक से उसका स्नेह सहज हो पाया,
क्योंकि पूर्वभाव के पुनीत संस्कार की रही साया ।
क्षमादि धर्मो जैसे मिल जुलकर चलना सीखे थे,
जनता को जीवन समान अतएव सदा दीखे थे ॥१४॥

शास्त्र शास्त्र दोनों विद्याये जिन्हें खूब आती थी,
आखों के समान जो सबको सत्पथ दिखलाती थी।
धीरे धीरे चलकर सब जब नवयौवन पर आये,
फूलो ने सुगन्ध से मानो भूपर हर्ष बढाये ॥१५॥

वसन्तकासा समय सभी का सुख से बीत रहा था,
इसी बीच में वज्रसेन के दिल ने अहो ! कहा था ।
दीख रहा जो ठाठ यह यहा क्षणभगुर है सारा,
किसा भाई बहन और फिर पिता पुत्र या दारा ॥१६॥

अपने अपने विधिवश होकर सभी यहा आ[illegible] है,
रैन बसेरा वृक्ष पर विहग माने लेपाये है ।
हुआ सबेरा मौत का जहा झट उठकर [illegible],
अपने अपने मार्ग यहां क्या कोई फिर पा[illegible] ॥१७॥

किन्तु मोहवश हो संसारी इनको अपना गावे,
आने पर तो हंसे किन्तु जाने पर रुदन मचावे ।
अज्ञानी इनके पीछे यों स्वयं विकल रहता है,
ज्ञानी हटकर दूर आपको समतामय कहता है ॥१८॥

प्राणिमात्र पर जिस पिशाचने अपना जादू फेरा,
उसी जुल्मजादेने देखो मुझको भी आ हेरा ।
ताकि मान बैठा बेमतलब इनमें तेरा मेरा,
इसी अंधेरे में बीत रहा अहो समय बहु तेरा ॥१९॥

अस्तु हुआ सो हुआ अहो ! बीती पर मै क्यों रोऊ,
खुली आंख बैठा फिर भी क्या व्यर्थ समय को खोऊ ।
अब तो बात करु वह जिससे ऐसा कभी न होवे,
क्या वह नाम सयाना दिन उगने पर भी जो सोवे ॥२०॥

इतने मे आकर चरणो में उनके फूल चढाये,
स्वर्ग पाचवेंसे चलकर जो सुरषिगण थे आये ।
और कहा हे प्रभो ! आज का दिवस सभी को प्यारा,
जहां आपने अपने दिल में यह कर्तव्य विचारा ॥२१॥

यो दुनिया की तरफ से जिसे मन मे हुई उदासी,
बना तपस्या के लिए अहो ! स्वयं शान्त बनवासी ।
मुक्ति श्री होपाई तब जिसके चरणो की दासी,
छोड़ा सब परिकरको और हुआ एकान्ताभ्यासी ॥२२॥

शरीर पर तक से भी ममता जिसने शीघ्र विनाशी,
साम्य पवन से विघट चली थी वह ही मेघ घटासी ।
चिरसे था जमाव जिसका वह दुषकर्मो की राशी,
ध्यानदीप से उपजाया झट था प्रकाश अविनाशी ॥२३॥

वज्रनाभि करने लगा सुसेवा जनता माता की,
नहीं सार संभाल में किमपि कसर रखी थी बाकी ।
ताकि बड़ा ही था सन्तोष हुआ उसकेभी जीको,
मानों घटकी एवज लोटा मिल पाया प्यासी को ॥२४॥

प्रकृति महादेवी उस पर ऐसी प्रसन्न हो पाई,
सार्वभौम कर देने की थी उदारता दिखलाई ।
नवनिधि चौदह रत्नो की तब विभूति दे बतलाई,
जिससे बड़ा न भूमण्डल पर कोई हो नरसांई ॥२५॥

नरनायक ही पायक जिसके होकर गुण गाते है,
सेवक देव कहा कर भी खुद को भागी पाते हैं ।
ऐसी महिमा का धारक जो राजराज कहलावे,
उसकेपुण्य प्रताप को कवि किन शब्दो में गावे ॥२६॥

[१]अनीति होकर सुनीति जिसके थी राज्य की बड़ाई,
प्रणीति जैसी वृद्धों के मुख से हमने सुन पाई ।
[२]मधुप वहां था केवल भौंरा और न कोई भाई,
कलङ्किता को एक चन्द्रमा ने ही थी अपनाई ॥२८॥

---

१ अतिवृष्टि आदि ईतियो से रहित । २ शहद चाटने वाला

[१]नमदाचरण सभी थे मद रह पाया जहां [२]द्विरद में,
[३]पलाशताढाक के सिवाय कहीं पर दीखी न हमें ।
[४]विरोधिता पिंजड़े में रह पाई प्रीति सभी में,
सन्तापित हो विचलित होना भी था केवल घीमें ॥२८॥

थे [५]नदीनता वाले मानव किन्तु [६]अजड़धीश्वर भी,
विनत बड़ों के आगे उन्नत मन के होने पर भी ।
होता था [७]अपहार कर्म कुचमण्डल पर युवती के,
कान्तद्वारा रात्रि में न फिर अंचल पर जगती के ॥२९॥

पिटता था धोबी के घर जो पट मैला होता था,
और देह धारी तो सुख की नींद सदा होता था ।
कहने वाला था केवल जहां कि धान्य [८]जवारी,
मनुजों मे न वहां कोई भी रहा वंचनाकारी ॥३०॥

[९]भोगवती थी प्रजा भोगियों का राजा ईश्वर था,
[१०]विपदातीत तथापि हुआ वह रहा सुकृत का घर था,
[११]त्रिवर्ग का ही अभ्यासी [१२]नतवर्गाश्रयकारी था,
है यह ठीक कि [१३]भपवर्गोपयोग का अधिकारी था ॥३१॥

---

१ नम्र आचरण वाले ।२ हाथो मे। ३ पलाशनामता मासभक्षकता, ४ पक्षि सहितता वैरभाव वा। ५ दीनता से रहित, समुद्रपना युक्त। ६ तीक्ष्णबुद्धि औग जल से रहित ।७ चोरी तथा हार रहितता ।८ जुआरी ।९ भोगशालिनी और शेष नगरी । १० निरापद और चरणयुक्त। ११ धर्मादिका और कवर्गादिका । १२ नम्र जन सेवी और तवर्ग का अज्ञाता । १३ मुक्ति और पवर्ग का अभाव ।

अति [1]नभोग लोगों का मूल्य न हुआ चित्त में जिनके ,
पदभ्रष्ट एकान्त भोगि लोगों को भी फिर गिनके ।
त्याग समर्थक भोग भावना मानवता की कुंजी,
वह ही उन लोगों के दिल की बनी हुई थी पुंजी ॥३२॥

फिर भी जिसे विबुध लोगों ने दिल से अपनाया था,
राजा होकर भी दोषाकर कभी न हो पाया था ।
तन्तुवाय की तरह जोकि गुणवानों का रागी था,
कोशवान खडग की तरह फिर अतिथि संविभागी था ॥३३॥

श्याम शस्य लम्बे बालों युत उत्तमांग जिसका था,
सहजाराम विधायक जिसके तनु की थी गुणगाथा ।
बड़े प्यार से वज्रनाभि ने उसको थी अपनाई,
उच्चैस्तन पर्वतावाली वह धरा उसे थी भाई ॥३४॥

लक्ष्मी के प्रति भूमि पाल का कुछ अनुराग नहीं था,
प्रजा प्रेम से सना हुआ जिसका कि सर्वदा जी था ।
अभ्यागत लोगों से वह यों बातें कर बेचारी,
अतः समय थी बिता रही मानो ध्वोज्झिता नारी ॥३५॥

तात ! तुम्हारी पुत्री स्पष्ट निरंकुश है हो पाई,
यही बात कहने को वारिधिसमीपता अपनाई ।
उस राजा की कीर्तिने अहो ! और कहूँ क्या भाई,
स्वभाव से औरतें परस्पर करती रहें बुराई ॥३६॥

---

१ देवो का ।

छिनवें हजार सतियां रति की सम्मति रखने वाली,
गज चौरासी लक्ष दिग्गजों जैसे महत्वशाली ।
अश्व अठारह कोटि पवन से भी पुनीत गतिबाले,
थे जिसके वह रहता था उपयोग सदा सम्भाले ॥३७॥

बारिधि जैसा गभीर नृप फिर [१]भंगरहित भी था ही,
मेरु तुल्य था अकम्प किन्तु न जड़ता का अवगाही ।
सूर्य सदृश तेजस्वी होकर भी प्रचण्ड न कदा था,
चन्द्र सरीखा मार्गो द्योतक किन्तु [२]सुवृत सदा था ॥३८॥

सतत लगा रहता था मन भगवान भजन में जिसका,
जन सेवा के लिए शरीर समर्पित था गुणदिश का ।
हाथो से सत्पात्र दान सन्मान कियाकरता था,
वचनों से आश्वासन देकर सकट सब हरता था ॥३९॥

वज्रनाभि वह गया एक दिन वज्रसेन दर्शन को,
मन में था खुश हाल हुआ कर जिनजी की पूजन को ।
सुन वाणी निर्वृति राणी की महिमा करने वाली ,
उनकी तथा रहा वह था भोगों में न रागशाली ॥४०॥

भोग रोग की भाति उसे अब दीखने लगेजग मे,
जिनमें फंसकर शोग जीव को होता है पग पग मे ।
अत· योग लेने को उद्यत हुआ यथोदित विधिसे,
हाल सुना जब वैद्याधीश्वर अरहन्त दयानिधि से ॥४१॥

---

१ विनाश और तरङ्ग । २ सदाचारी और गोल

जरती जगती में नरपति की रही जरा भी न रति,
क्योंकि चित्तमें वश पाई थी वह उसके मुक्ति सती।
जिनदीक्षा सहचरी का वहां था अनुयोग लगाया,
वस्त्राभरणादिक सब दे खुद यथाजात हो पाया ॥४२॥

पूर्ण [१]नृशंस सर्व हिंसा विरहित जो वैरागी था,
[२]कूटादि पदों का प्रेमी हो अलीक का त्यागी था,
मुक्तिरमारत चित्त किन्तु वनितामात्र से विरत था,
था [३]निर्ग्रन्थ तथा ग्रन्थों के पढ़ने में परिणत था ॥४३॥

करणानुयोग पाठक भी [५]करण प्रचार संहर्ता,
[६]समिति समाराधक होकर एकाकी विहारकर्ता।
जन्तुमात्र रक्षक [७]बालों को नोच फेंकने वाला,
[८]महानिष्कपट, पटवर्जित था जिसका ढङ्ग निराला ॥४४॥

जल स्नान तज सूक्त समुद्र स्नान कियाकरता था,
कायोत्सर्ग लगाकर अपना एनोमल हरता था।
नंगे पैरों धैर्य सहायी तीर्थाटन करता था,
एक पाप के सिवा किसी से भी क्या वह डरता था ॥४५॥

---

१ मब लोगो के द्वारा प्रशसनीय तथापूर्ण रुप से निर्दय। २ पर्वत शिखरादिका वा कपटादिका। ३ परिग्रह रहित। ४ त्रिलोक प्रतिपादक ग्रन्थ का पढनेवाला। ५ इन्द्रिय विजयी। ६ ईर्यादि ममिति तथा मनुष्यो की सभा। ७ केशो का वा बालको का। ८ कपट वर्जित तथा बहुमूल्य वस्त्रो वाला।

मासोपवासादि के द्वारा आत्मबल निखरता था,
कोटारादि में एक पार्श्व से थकान को हरता था।
रजनी में दीपक भी जिसके लिए चन्द्र होता था,
समता को सहचरी बनाकर सुख से वह सोता था ॥४६॥

चेतन है इस तनु से न्यारा स्पष्ट भरोसा ऐसा,
चैतन्य का समादर करता धन का निर्धन जैसा ।
कभी न शील सद्व्रतों में दूषण लगने देता था,
सभी जगह वर विवेक से सदा काम लेता था ॥४७॥

हटी भोग से आत्म योग में जिसकी दृढ अभिरुचि थी,
आगे आगे होती रहती त्याग भावना शुचि थी ।
अनशनादि तप करने में जो स्वय लगा रहता था,
औरों को तत्पर करने के लिए सदा कहता था ॥४८॥

टहल किया करता था सभी सज्जनों की तनमन से,
जीवन बना हुआ था श्री अरहन्तों केगुणधन से ।
सघाधिप के कहने में जो सदा चला करता था,
विशेषज्ञ को देख खुशी से उसका मन भरता था ॥४९॥

केवलि के अनुशासन पर जिसका विश्वास बड़ा था,
तदनुसार निज कर्तव्यों पर रहतास्वयं अड़ा था।
औरों को भी वही मार्ग बतलाने में तत्पर था,
मार्ग गामियों पर सहजतया हुआ प्रेम का घर था ॥५०॥

जिससे भावी तीर्थंकर पद सम्पादन करपाया,
वर्तमान में भूरि ऋद्धियों ने जिसको अपनाया ।
फिर भी प्रीति न उनमें उपाधितुल्य समझकर उनको,
अपुनर्भव के लिएलगाये हुए वह रहा धुन को ।।५१।।

卐 कुण्डलिया 卐

आयु अन्त में था हुआ वह समाधिमय धीर,
शुक्लयोग साबुन लिया धोने को मन चीर ।
धोने को मन चीर जिनागम सिन्धु नीर से,
यत्न किया ले वारि वहां सुविचार सीर से ।
सुका सका जिसको न पृथक नामक था वायु,
पूर्ण होरही इतने में ही उसकी आयु ।।५२।।

इस लोक के मस्तक सदृश उत्तम अनुत्तर भाग में,
सर्वार्थ सिद्धि विमान है हो पुष्प जैसा बाग में ।
वह भृङ्ग जैसा पहुंचपाया सरस खुशबू के लिए,
तेतीस सागर तक वहां पर भाव रहने के किए ।।५३।।

विजयादिक नो जीव जो कि सहचर उसके कहलाये थे,
उन सबने भी साथ उसी के तप में चित्त लगाये थे ।
अन्त समय सन्यास मरण पर अपने भाव जमाये थे,
अतः उसी सर्वार्थसिद्धि में वे सब भी जा पाये थे ।।५४।।

हरेक ही होता कि जहां पर अहमिन्द्रताधिरो ही है,
नहीं किसी से किसी बात में भी हीनाधिक कोई है ।
प्रवीचार से रहित परम सुखिया उज्जवल लेश्यावाला,
पंच परम गुरु नामों की जो जपता रहता है माला ।।५५।।

卐 सप्तम अध्याय समाप्त 卐

卐 अष्टम अध्याय प्रारम्भ 卐

卐 कव्वाली छन्द 卐

श्रीमदरहन्त होते हैं रोष रागादि के जेता,
आप फिर और लोगों के लिए भी तत्वपथ नेता ।
उन्होंने के चरण चिन्हों का चित्त यह सतत अध्येता,
उन्हीं ने है बताया तब यहां पर काल था त्रेता ।।१।।

बीस नीलाब्धि परिमित काल रहता जो यहां पर है,
आदि में कोश ऊंचा देह पल्योपम तथायु रहे ।
युगल ही जन्म लेते हैं युगल ही मृत्यु हैं पाते,
सप्त सप्ताह में तो प्रौढ़पन को प्राप्त हो जाते ।।२।।

एक दिन बाद मनुजों को जहॉ पर भूख लगती है,
आमलकमित सुभोजन से झटिति जो दूर भगती है ।
नरों की कल्पवृक्षों सेसमीहा पूर्ण होती है,
किसी भी तरह की बाधा नहीं उत्साह खोती है ।।३।।

काल वह बिदा होने को जहां तैयार हो पाया,
तथा द्वापरसमागम का समय जब निकट था आया ।
बुढापे में मनुज जैसे वृक्षहतशक्ति हो पाये,
पशु हुए क्रूर परिणामी यथा भट युद्ध पर आये ॥४॥

प्रसव पर ही पिता माता मरण भी थे जहां करते,
वही अब सुतसुता को देखकर थे चकित हो रहते ।
नेष्ट संयोग इष्ट वियोग का जब भाव होपाया,
युगल का भेद होकर एक सन्तति ने प्रसव पाया ॥५॥

गगन में मेघ बनकर वारि वर्षा ने लगे तब थे,
नदी नद आदि से उनके दिलों में अतः विप्लव थे ।
इस तरह अड़चनें आकर सताने थी लगीं उनको,
हुए क्रमवार चौदह मनु उन्होंने था किया गुन को ॥६॥

उन्हीं मे नाभिराजा नाम धारक अन्त का मनु था,
कोटि पूर्वायु साधिक पांच सौ धनुसमुत्थित तनु था ।
पूर्व पुण्य प्रतिज्ञा से अवधिसंज्ञान का धारी,
प्रजा के भद्र साधन के लिए जो था दृढ़विचारी ॥७॥

कलाधर चन्द्र जैसा किन्तु नृप था क्षीणतनु न कभी,
गंभीर समुद्रवत होकर नहीं बड़धीश वह फिर भी ।
अडिग दिल मेरु जैसा किन्तु मार्दवभाव का धारी,
प्रदीपक सत्य पथ का था निरंजन तत्व रुचिकारी ॥८॥

वज्रमय संहनन संस्थान समचतुरस्त्र गुणधारी,
अतः तनु थी बनी उसकीसहज सौभाग्य की वारी ।
उर स्थल दृढ़विशाल रमासदन सा भव्यसुखदाई,
अर्गला तुल्यलम्बी बाहु घुटनूं तक पहुंच पाई ॥९॥

समुन्नत शीश जिसका मेरु श्रृङ्ग समान सुन्दर था,
भाल सुविशाल ने पाई अष्टमी चन्द्र की सुकथा ।
नान्दिये के ककुद् की भांति कन्धे थे उठे नृप के,
कण्ठ को देखकर तो भूमि भर के कम्बु वर्ग थके ॥१०॥

कूर्म के पृष्ठ कीसी भांति दोनों चरण थे उभरे,
अहो ! जिनके भरोसे भूवलय भी स्थिति प्राप्त करें ।
इस तरह भूप के तनु का अनोखा रुप वैभव था,
सुनो अब और आगे जोकि जीवन सार की सुकथा ॥११॥

यहां होने लगा अब था नाभि के नाल युत बच्चा,
उसे विच्छिन्न करने का बताया ढंग था सच्चा ।
इसी से तो उसे सब लोग कहने थे लगे नाभी,
रहा सद्भाव अब देखो नहीं था युगलता का भी ॥१२॥

रात दिन का विभेद सुधांशु दिन कर के परिक्रम से,
शीत आतपत था वर्षादि भी होने लगे क्रम से ।
कल्पतरु नष्ट होकर थे क्षुद्र पादप निपज पाये,
पिता के पाट पर जैसे सुपूतों ने हक जमाये ॥१३॥

हाल यह देखकर सब आर्य मन में यहां घबराये,
उन्हें उस विज्ञने उनके सही उपयोग बतलाये ।
वहां उस सुमन की सौरभ इस तरह खूब थी फैली,
चित्त की वृत्ति जिसकी थी मधुरता की बनी थैली ॥१४॥

यथाविधि था विवाह हुआ सती मरु नाम राणी से,
प्रशंसा कर सके कवि कौन उसकी स्पष्ट वाणी से ।
स्वयं सौभाग्य की मानों पुनीत लुभावनी प्रकृति,
रुप सौन्दर्य मे जिसके बराबर हो सकी न रति ॥१५॥

पाप पाखण्ड से जिसकी दूर होकर रही सुमति,
सदा पति चित्त के अनुकूल जिसकी थी बनी प्रगति ।
चरण सेवा निरत होकर जहां लक्ष्मी बनी पद्मा,
विश्व मे संस्त वन के योग्य वह रामा सुगुण सद्मा ॥१६॥

घमण्ड किया वृथा मैने तुम्हारी मुख सदृशता का,
क्षमा कर दो जननि ! मेरा हुआ जो दोष वह बाका ।
यही आलोचना लेकर लगा जिसके पदो पर था,
नखच्छल से सपरिकर इन्दु ऐसी हुई वृद्ध कथा ॥१७॥

जानुयुग की जगद्विख्यात थी सुपद प्रतिष्ठितता,
रही सद्वृत्तता जिसमें समन्वय रुप से प्रतना ।
सुवृतोन्नत नितम्ब बना गुणान्वय का कि अनुरागी,
स्वर्ण के सूत्र से संयुक्त उसको किया बड़भागी ॥१८॥

इधर उद्धत नितम्ब बना उधर कुचयुग कठिन भारी,
उदर यह सोचकर ही था हुआ कृशभाव का धारी ।
वलित्रय ने दिखाई वक्रता थी आत्म वैभवत:
रहा मध्यस्थ होकर नाभिमण्डल था गभीर यत· ॥१९॥

पूततम पुण्य वसुधा के स्तनद्वय थे विशाल बड़े,
सुदृढ़ उन्नत यमक गिरि तुल्य भूपति को कि जान पड़े ।
भुजायें भी सुकोमल वृत्त आयत नागपति जैसी,
किन्तु नगराधिनायक के लिए उपयोगिनी वैसी ॥२०॥

पद्म भी पास का जिसके करों की न कुछ तुलना को,
वहां पल्लव विचारा क्या करे इसको जरा आंको
सभ्य समुदाय मे अपना प्रवालपना प्रगट करदे,
कुपल के रुप में मन को महा आश्चर्य से भर दे ॥२१॥

कण्ठ को संख की उपमा कहो कैसी कही जावे,
भारती खुद जिसे निज राजधानी ही करबतावे ।
सतीका मुख जलज कैसे सुकवियो से कहा जावे,
अन्त्यज न कभी आदिम वर्ण को इस भूमि पर पावे ॥२२॥

सुलेखांकित सुशीलाका ठीक ही अधर कहलाया,
अमृत स्थान भूपर तो कहीं वैसा न हो पाया ।
भाल था लाल वारिधि का सुधाधारा जहां पर से,
वह चली थी वही तो नासिका हो रही सम्वर से ॥२३॥

बना श्रुतिलंघनोत्सुक था नयनयुग चपलतावश हो,
अतः कर अजनाचित था रखा उसको सदैव अहो ।
कर्ण वर्णश्रमप भी सहज में ही जो बन रहे थे,
कुण्डलों से अंलकृत कर उन्हें क्या धन्य न कहे थे ॥२४॥

卐 आठवा अध्याय समाप्त 卐

卐 नवम अध्याय प्रारम्भ 卐

अब चलिये सर्वार्थसिद्धि में देव जो कि था हो पाया,
वज्रनाभि उसका जीवन परि समाप्त था होने आया ।
घण्टानादादिक से सौधर्मेन्द्र ने स्वयं था जाना,
षण्मासावधि शेष रह गया केवल उसका वह बाना ॥१॥

मरुदेवी कूख से उपज होगा मानव शिरोमणि,
उसके द्वारा उपकृत होकर हम सब होंगे क्या न ऋणी ।
अत· कृतज्ञ भाव से उसने भण्डारी को आज्ञा की,
आकर कुबेर ने झट भूपर पुरी अयोध्या थी चांकी ॥२॥

अपनी नगरी से भी बढ़कर उसने उसे बनाई थी,
त्रिजगत्पति की होने वाली जहां अहो । ठकुराई थी ।
बारहयोजन लम्बाई में नो योजन चौड़ाई थी,
कुलटा की भावना तुल्य नीची और विषम खाई थी ॥३॥

रत्न सुवर्णवान् परकोटा बलय सद्दश हो पाया था,
मानुषोत्तराचल ने मानो आकर ठाठ जमाया था ।
मार्ग यहा से और वहां तक सीधा शिशुमन तुल्य बना,
मुनि के समाचार जैसे उन्नत थी गोपुर की रचना ॥४॥

जहा मध्य में रचा गया था राज भवन सुन्दर भारी,
जिस विशाल ने उस नगरी के मस्तक की शोभा धारी ।
सींप सरीखी धवल मकानों की कतार थी लगी जहा,
मुक्तोचित जिनजी के मन्दिर रचे गये थे यहां वहां ॥५॥

जिनायतन का भाग जो कि उच्चैस्तन कलशालंकृत था,
उस नगरी का हृदय सरीखा उन्नत और विशाल तथा ।
मन्द मन्द पवन प्रेरित हो ध्वजपट वहा सुहाता था,
उठा धूप का धूम जहा पर केशपाश सा भाता था ॥६॥

भूरि कल्प तरुओ से मण्डित नन्दन सम उद्यान जहा,
सभी तरह की समुचित शोभा हो पाई थी और वहां ।
सजल सरोवर कपोल जैसे मन को हरने वाले थे,
जिनमें कमल खिले उन पर भौंरे गूंज रहे काले थे ॥७॥

वहां शचीपति ने आकर शुभवेला में उत्साह लिया,
नाभि भूप मरुदेवी का ठाठ सहित अभिषेक किया ।
स्वर्गों से लाये वस्त्राभूषण उनको पहिराये थे,
राज भवन में उन्हे अहो ! आदरपूर्वक ठहराये थे ॥८॥

माता की सेवा में श्री आदिकषट् कुमारिका देवी,
नियुक्त की धनदेव रहा भूपति का चरण कमल सेवी ।
तीनों काल रत्नवर्षादिक पंचाश्चर्य किया करता,
और सभी अनुशासन नृपका निज मस्तक पर था धरता ॥९॥

यों करते करते वर्षार्द्ध जहां पर था कि बीत पाया,
तीन जगत्पति की माता का गर्भाधान समय आया ।
रजनी के अन्तिम प्रहर में देखी उसने स्वप्नतति,
फूलों की कोमल शय्या पर सुख से जो थी शयनवती ॥१०॥

सुर गजेन्द्र पहिले देखा फिर बलीवर्दपंचानन था,
पूर्ण चन्द्रमा रमा हस्तियुग के द्वारा अभिषिक्त तथा ।
फूलो की दो मालाये फिर नभ में समुदित दिनकर भी,
स्वर्ण कुम्भ युग वारिपूर्ण कमलाच्छादित मुख किंच तभी ॥११॥

क्रीड़ा करता मीन युगल अम्भोज पूर्ण तालाब तथा,
सागर सिहासन विमान नागभवन फिर रत्नोच्चय था ।
समुज्जवलित फिर पावक देखी यो शोडषस्वप्न आये,
बैल अन्त मे घसता देखा ताकि चैन पाये ॥१२॥

स्वप्नान्तर वह सचेत सुप्रसन्न भी थी हो पाई,
उसके मानस मे परमामृत धारा मानो थी आई ।
इधर निशाने बिदा ली कि मेरी चोकी अब नहीं यहां,
उषा सहचरी जाकर झटपट सेवा करने लगी वहा ॥१३॥

अरुण वरण चादर जिसने आदर पूर्वक अपनाई थी,
जो कि हाथ में दिनकर मंगल दर्पण लेकर आई थी ।
जिनमाता के गुणस्तवन में आकर चित्त लगाया था,
उद्बोधित विहगो के कलरव का छल कर बतलाया था ॥१४॥

कुक्कुट रटना की बुलंद भेरी भी खूब बजाई थी,
खिले हुए सरोज फूलों की अंजलि भरकर लाई थी ।
अलिदल के छल से अघसत्ता को भी दूर भगाई थी,
चकवा चकवी नाम से भुजा दोनो जोड़ बताई थी ॥१५॥

ऐसे अहो । शक्तिभर उसने भक्ति वहा बतलाई थी,
जगदम्बाने भी झट उठ छाती से उसे लगाई थी ।
फिर मङ्गल मज्जन कर वस्त्रा भरणो से समलंकृत हो,
पति के पास गई इन्द्राणी इन्द्र निकट ही क्यों न कहो ॥१६॥

नरनायक ने निज आसन पर वामभाग मेंस्थान दिया,
स्नेह भरी चतुराई द्वारा उसका आदर उचित किया ।
राणी ने नृप करण कुहर मे स्वप्न वृत्त वह पूर दिया,
अमृत समान उसे पीकर नृप ने दिल मे आनन्द लिया ॥१७॥

प्राप्त हुए उस हर्ष का कि सम्विभाग करने निमित्त ही,
उत्सुकतापूर्वक राजा ने रानी से फिर बात कही ।
तीन लोकपति होने वालापुत्र कूख में है आया,
तेरी, तुने निजमुंह हमे धसता जो वृषभ देख पाया ॥१८॥

और सभी स्वप्न हैं उसी के गुण वर्णन करने वाले,
क्रम से कहता हूँ जिसको सुन तेरा चित्त तोष पा ले।
ऐरावत के दर्शन से महिमावाला हो पावेगा,
वृषभ देखने से वह सम्प्रति तीर्थंकर कहलावेगा ॥१९॥

सिंहकी तरह अखण्ड बल का धारक भी हो पावेगा,
चन्द्र तुल्य सम्पूर्ण कलाधर समाह्लाद कर जावेगा।
सुरगण सुमेरु पर लेजाकर जिनको वहां न्हलावेगा,
सुगंध से जो कुसुम की तरह जगभर को महकावेगा ॥२०॥

सूर्य की तरह पथ दर्शक वह रहे सदा यह याद हमें,
मंगलमय दर्शन भी जिसका पूर्ण कुम्भसम हो जग में।
जिसका यौवन विनोद से परिपूर्ण मीनवत देह तथा,
सुलक्षणों से मंडित होगा कमलोजित तालाब यथा ॥२१॥

विमल बोध का सागरवत मर्यादापालक होवेगा,
परमोन्नता सिहासन पाकर सारे सङ्कट खोवेगा।
देव और दानवगण जिसको फिर फिर शीश नमावेगा,
अवधिबोधयुत भव्योत्तम वह जन्म यहा पर पावेगा ॥२२॥

हो भण्डार सुगुण रत्नों का श्री अरहन्त कहावेगा,
ध्यानवह्नि से कर्मकाष्ठ को अहो! भस्म कर जावेगा।
ऐसे कहकर नाभिराज ने जहां मौन ले पाया था,
जय जय करता इन्द्रादिक देवों का समूह आया था ॥२३॥

विनति सहित तीर्थेश गर्भकल्याणक कर बतलाया था,
गीत नृत्य वादित्रादिक का अच्छा ठाठ दिखाया था ।
माता और पिता की श्रूघा कर बहु पुण्य कमाये थे,
स्वर्गो से लाये वस्त्राभूषण उनको पहिराये थे ॥२४॥

जिन आषाढ़ कृष्ण दीयज के रोज गर्भ में आये थे,
वज्रनाभि चक्री जो अहमिन्द्राधिराज कहलाये थे ।
श्री नक्षत्र उत्तराषाढ़ जहां पर वह गुणकारी था,
चतुणिकाय देव लोगों ने किया महोत्सव भारी था ॥२५॥

इन्द्रादिक फिर चले गये आशिष ले उस बहुभाग्या से ।
रुचिकवासिनी देवियां यहां रही इन्द्र की आज्ञा से ।
जिन माता की सेवा कर शुभ उसका प्रसाद पाने को,
अपने देवी जीवन को यो सार्थक कर बतलाने को ॥२६॥

कोई देवी उसेस्नान करवाने मे लग पाई थी,
कोई वस्त्राभूषण पहिनाने को लेकर आई थी।
पुष्पदाम रचने मे कोई ने भावना जगाई थी,
तो कोई ताम्बूल सजाकर निज हाथों मे लाई थी ॥२७॥

एक लगी चोटी करने में दूजी दर्पण लाई थी,
तीजी केशर चन्दन लेकर तिलक लगाने आई थी ।
चौथी सुरमादानी और सलाई ले दिखलाई थी,
यो सबकी सब जिन माता की सेवा मे लग पाई थी ॥२८॥

एक बिछाती सेज दूसरी पंखा करने लग जाती,
वहां तीसरी पग चम्पी करने में प्रेम बता पाती ।
जहां देखती श्रान्ततया विश्रामोन्मुख थी माता को,
कोई विनोद की बातों से उपजाती थी साता को ॥२९॥

जगदम्बा के देह में न कुछ विकार था होने पाया,
गर्भावस्था में जनियों के जोकि देखने में आया ।
त्रिबलि सहित जैसा था वैसा उदर सजीला बना रहा,
ताकि उसे अन्तर्वत्नी कोई ने भी क्या कभी कहा ॥३०॥

##卐 कुण्डलिया 卐

माता के मृदु उदर में समुचित सुखके साथ,
दर्पण मे प्रतिबिम्बसम रहे वहाँ जिननाथ ।
रहें वहा जिननाथ सात दिन मास नव तथा,
कभी न कोई हो पाई थी गर्भजा व्यथा ॥
मौक्तिक जैसे शुक्ति में स्वय चमक दिखाता,
धन्य धन्य इस भूमिभाग पर वह जिनमाता ॥३१॥

卐 नवम अध्याय समाप्त 卐

卐 अथ दशमोध्यायः 卐

धन्य दिवस वह जहां कि जन्मे तीन जगत्राता,
चैत्रकृष्ण नवमी सुन्दर तिथि भूपर विख्याता ।
रहा उत्तराषाढ़ सुभग नक्षत्र विभवकारी,
ब्रह्मनाम का योग खुश हुए सब ही नरनारी ॥१॥

रवि के द्वारा पूर्व दिशा जैसे आदर पावे,
देवालय की ध्वजा कलश युत जहां कि हो जावे ।
मान सरोवर झील हंस से ज्यों हो रुचि वाली,
मरुदेवी ने भी तब शिशु से वह शोभा पा ली ॥२॥

शिशु प्रसव के गन्ध से धरा महकने लगी थी,
प्राणिमात्र के चित्त में कि तब चेतना जगी थी ।
दशों दिशायें खुश हो मानों हंसनेहि लगी थी,
नारक लोगो की भी पलभर वेदना भगी थी ॥३॥

व्यन्तर देवों में भेरी तब भौंकने लगी थी,
भवनवासियों में शंखध्वनि देखो कि जगी थी ।
ज्योतिष देवों के यहां अहो ! गजरिपु था गरजा,
कल्पवासियों के घर घण्टा अपने आप बजा ॥४॥

इन्द्रों के आसन कम्पित थे हुए कि हे सुजनों,
सद्योजात जगत्पतिके तुम जाकर दास बनो ।
नहीं यहां बैठा रहना भी योग्य अहो अब है,
पूज्य पुरुष की पूजा करना जग में ठीक रहे ॥५॥

अपने आप मुकुट नत होकर थे बोले कि अहो !
क्यों बैठे हो प्रमाद में तुम जय जिन देव कहो ।
बरसने लगे फूल कल्पतरुओं से कि सुभागे,
लो कुसुमांजलि और चढ़ाओ जाओ उन आगे ॥६॥

सावधान हो शचीश ने तब था उद्घोष किया,
चलो भाईयों ! भरतखण्ड में प्रभु ने जन्म लिया ।
देवी देव सभी आकर तब जमे वहां पर थे,
कुसुमपात्र से सम्पूरित जिन सबके ही कर थे ॥७॥

ऐरावत करि समारुढ़ हरि शचीसहित निकला,
उसके पीछे पीछे होकर सब परिवार चला ।
नभमण्डल में आखण्डल की सेना थी छाई,
चलकर पलमात्र में अयोध्यापुरी निकट आई ॥८॥

गज, हय, रथ, गंधर्व, नर्तकी, बैल, पदाति तथा,
सात तरह की सेना जिसमें जय कोलाहल था ।
उससे आगे वह ऐसे उत्साह सहित दौड़े,
जिन दर्शन के लिए जिन्होंने अपने मन जोड़े ॥९॥

यथा रेडियो से आवाज दूर तक जाती है,
जाने मे क्या कुछ भी देखो देर लगाती है ।
वैसे ही सुविक्रिया समर्थित हो जाती है,
असंख्यात योजन चलकर पलभर में आती है ॥१०॥

आई वह थी और लगाई प्रदक्षिणा पुरको,
देख चित्त में हर्ष हुआ था हरेक ही सुर को ।
हरि की आज्ञा से गई शची थी प्रसूती घर में,
देखा मरुदेवी को शिशुयुत था जिस अवसर में ॥११॥

सूर्य सहित पूर्व दिशा दर्शन, से हो उषा यथा,
अनुरंजित वह हुई जब कि पहुँची सन्निकट तथा ।
नमस्कार कर दी प्रदक्षिणा तीन फिर जहां थी,
कृत्रिम निद्रा जिन जननी को लिवाई वहां थी ॥१२॥

उपशिशु उसकी गोद में दिया सावधानता से,
तीर्थ नाथ को विनय सहित वह ले चली वहा से ।
लाकर दिया सुरेश को कि वह हुआ बहुत राजी,
देखी लोकोत्तर जिनेश की जब कि रुपराजी ॥१३॥

धन्य कहा आपको समागम जहाहुआ नीका,
परम पुण्य रत्नाकर मुक्तामय जिनवरजी का ।
रुप पिपासु सुधाशी ने अद्भुत लावण्य लखा,
तृष्णा और बढ़ी तब उसकी क्या फिर धैर्य रखा ॥१४॥

नयन हजार किये उसने फिर भी तो न अघाया,
जन्मदीन ने जैसे सूना निधान हो पाया ।
उसके कल पल्लवो में जहां बाल एक आया,
सफल गिनी अपनी सुलरताको दिल मे हुलसाया ॥१५॥

ऐरावत गज पर जिनराज विराजे थे कि जहां,
दीखे शरदभ्र के शीष समुदित रवितुल्य वहां ।
सौधर्मेन्द्र गोद में लेकर बैठा विपत्र को,
ताना ईशानेन्द्र ने वहां पर आतपत्र को ॥१६॥

सानत्कुमार माहेन्द्र लगे चमर ढुराने में,
शेष शक्र सुर जुट पाये जय जय के ताने में ।
किया इशारा सुराधीश ने चलने का जब था,
सुमेरु के प्रति चला देवगण धर उत्साह तथा ॥१७॥

श्री आदिक देविया चली मंगलद्रव्यों को ले,
जहा जोर से देव लोग फिर जय जय थे बोले ।
गंधर्वों ने यश गाने में अपने दिल खोले,
नाचने लगी वहा अप्सरायें होले होले ॥१८॥

तुरई और नगारे आदिक बजने थे कि लगे,
ताकि चौक कर पाप दिलों के सहसा निकल भगे ।
भूतल से निन्यानवे सहस योजन मित ऊंचे,
सुमेरु के पांडुक बनमें वे सभी जापहुंचे ॥१९॥

जो सुमेरु है मध्य लोक का मापदण्ड जैसा,
मानव तनु मे नाभि रहे भू लोक मध्य वैसा ।
इस भूतल पर शैल नाम से जो भी रहते है,
उन सबसे वह ऊंचा ऐसा कविवर कहते हैं ॥२०॥

इस जम्बूद्वीप में तीर्थंकर जो अवतरते हैं,
उन सबका अभिषेक यहां ही सुरगण करते हैं ।
अतः हुआ यह तीर्थ शिरोमणि यों विचार कर ही,
है प्रदक्षिणा दिनकर सेना जिसकी लगा रही ॥२१॥

जिसके शिर पर मुकुट चूलिका नाम मनोहर है,
सब शैलों का यही शिरोमणि होकर यहां रहे ।
जो कि पुण्य से पूत किन्तु पाप से अछूता है,
इसीलिये स्वयमेव सुरस्थल को भी छूता है ॥२२॥

जहां राधना समानसुन्दर बन चतुष्टयी है,
सफल तथा छाया युत जीवन जिसका प्रणयी है ।
स्वयं सिद्ध जिन मन्दिर शोड़ष कारण जैसे ही,
और भी सकल वैभव जिसका है सुकृत स्नेही ॥२३॥

स्वर्गतुल्य लख सुमेरु को देवों ने सुख पाया,
मनोमोहिनी [१]रम्भादिक की जहा कि थी छाया ।
भूरि [२]देवतरुओं से भी थी मजी हुई काया,
[३]हरि चन्दनादि की गहरी थी फैल रही माया ॥२४॥

दे प्रदक्षिणा गिरिकी पाण्डुक वन मे थे आये,
ईश कोण में चन्द्रकान्त सुशिला लख हर्षाये ।
सौ योजन लम्बी तदर्द्ध चौड़ी वसु उन्नत भी,
सिहासन मगलद्रव्य शोभित थे जहा सभी ॥२५॥

---

१ कदली तथा अप्सरा । २ देवदारु वृक्ष और कल्पवृक्ष । ३ श्वेत चन्दन तथा देववृक्ष।

जिसके भी मध्य में सिंह [1]विष्टर जिनजी का है,
उसके इधर उधर में भद्रासन युग नीका है ।
जहां खड़े सौधर्म और ईशान सुरेश रहें,
अर्द्ध चन्द्रमा तुल्य शुभाकृति जिसकी सुकवि कहें ॥२६॥

पूर्वाभिमुख वहां जिनवर को विराजमान किया,
मानों कर्पूर लता पर चन्दन ने जन्म लिया ।
सारे पाण्डुक वन को देवादिकने था घेरा,
यथा स्वर्ग ने ही आकर होलगा लिया डेरा ॥२७॥

अपनी अपनी दिशा मे वहां थे दिकपाल डटे,
और सभी सुर जहा छीड़ देखी उस जगह सटे ।
जिनाभिषेक देखने का मन में उत्साह बढ़ा,
ज्यो श्रावण में अहो ! जलाशय का हो नीर चढ़ा ॥२८॥

कलशोद्धार मंत्र पढ़कर सुरपति ने कलश लिए,
जिनको ईशानेन्द्रने कि चन्दन से चर्च दिए ।
और सभी ने जयकारे में था आनन्द लिया,
बाजों की आवाज ने गगन मडल पूर दिया ॥२९॥

मेरु शिखर से क्षीरोदधि तक पंक्तिबद्ध सुर थे,
मौक्तिक मालालंकृत घटयुत जिनके श्रीकर थे ।
हाथों हाथ कलश जल के जो भरकर लाते थे,
एक दूसरे के हाथों में देते जाते थे ॥३०॥

---

१ आसन ।

हरिने हाथ किये हजार आनन्द समन्वित हो,
एक साथ सब कलश लिए थे उसने वहां अहो ।
भाजनांग सुरतरुसम शोभा गही क्या न तब थी,
जिन जन्माभिषेक की बेला हुई स्पष्ट जब थी ॥३१॥

एकचार वसुयोजन वदन उदर अवगाह लिए,
था हरेकघट पाठक ऐसा समझे स्वीय हिए ।
एक साथ वह मोटी धारा बहकर आई थी,
पुष्पदामवत जिन तनुपर वह भी हो पाई थी ॥३२॥

अहो ! आज मुझ जड़को भी संयोग मिल रहा है,
इस सम्यग्ज्ञानी के तनुका हर्ष यह महा है ।
यों होकर उन्मत्त ही सलिल मानो उछला था,
जो कि गगन में कोशों दूरी तक जा निकला था ॥३३॥

इधर उधर में छटा गई जो उस उज्वल जल की,
दिशा देवियों के कानों मे बालीसी झलकी ।
जिन स्नपन का पूर धरातल तक बह कर आया,
जिसने वन तरुओं को भी प्लावित कर बतलाया ॥३४॥

इन्द्राणी ने भक्ति युक्त जिनतनुको अगोछा,
जड़का क्यों संसर्ग रहे यों बार बार पोंछा ।
उसको श्रृङ्गारित करने में था फिर चित्त दिया,
इन्द्राणी जीवन को उसने ऐसे सफल किया ॥३५॥

जिसे देखकर ही होती थी लोगों को प्रीति,
जिन तनु यथा महाकवि की भूपर कविता गीति ।
सुवर्ण सम्पादित जिसकी गौरी कि सुगुण रीति,
नानालङ्कारों की जिस पर हुई प्रगट नीति ॥३६॥

चूड़ामणि ने जगचूड़ामणि का मस्तक चूंमा,
तिलक जगत्तिलक के भाल पर जब ही जा लूंमा ।
कज्जल सुदृष्टि को पाकर था सुरमा कहलाया,
अहो ! पतित पावन काप्रसाद पूर्णतया पाया ॥३७॥

लोकत्रय मार्गोद्योतक की सेवा में आये,
कुण्डल युग मिषसे भानु शशी दोनों हर्षाये ।
गले लग रहा हार मनोहर गुणानुरागी था,
मुक्तात्मक रुप में कि जिसकी उत्तम हुई कथा ॥३८॥

कटकाक्रान्त वहां हो पाया प्रकोष्ठ मदुल यथा,
हुआ करधनी नाम विभूषण कटी क्षेत्र पर था ।
तुलाकोटि मिषसे चरणो मे स्वर्ग शिव रमा ही,
प्रार्थना कररही थी कि सुनो हे सत्यगुणग्राहिन् ॥३९॥

शंतिविधायक गुण इस जग में ऐसा और कहां,
जैसा इस तीर्थेश्वर में है यही सोचकर हां ।
चन्दन युत कर्पूर कि जिनके चरमओं में आया,
इसीलिये घनसार नाम भी उसने था पाया ॥४०॥

मौक्तिक चोक पूरकर देवी ने बतलाया था,
मुक्तामय हैं आपकि ऐसे शीश झुकाया था ।
सुमन भी नहीं लोकत्रय में है श्री जिनवरसा,
यों कह देवों ने फिर की थी वहां कुसुमवर्षा ॥४१॥

इनके संसर्ग से अमृत भी सार्थक अहो ! बने,
ऐसा विचार कर पाया था पौलोमी वर ने ।
नर–कर–अंगूठे में उसको स्थापन किया अत·,
उनके जो थे तीन लोक के त्राता स्वभावत· ॥४२॥

रवि आगे दीप भी नहीं हम तुम आगे स्वामिन्,
तुम हो मोह नाशने वाले हम जिसके हामी ।
ऐसा कह कर दीप जगाया आगे जिनजी के,
उन सारे देवी देवों ने जिनके दिन नीके ॥४३॥

उठा धूप का धूम जोकि पापाशय जैसा था,
चित्त हुआ निर्मल उन सबका कचन कैसा था ।
फल अर्पण था किया वहां उनने ऐसे मन से,
सफल जन्म हम हुए हैं अहो ! श्री जिनदर्शन से ॥४४॥

आरति ली जिनराज गुणों में फिर थी तन्मय हो,
भववारिधि से तरने को यह ही है पोत अहो ।
इनका शासन इस धरणी तल पर चिरकाल रहो,
ताकि किसी भी तनुधर को कोई भी कष्ट न हो ॥४५॥

अन्त में पुनर्जिन चरणो में जलधारा दी थी,
सबने मिलकर एक स्वर से जय जय बोली थी ।
कौन था कि जिसकी न वहां पर झुक ली मौली थी,
अभिषेक की क्रिया वह ऐसे पूरी हो ली थी ॥४६॥

अतः जिस तरह आये थे वापिस फिर थे धाये,
उसी ठाठ से शीघ्र अयोध्यापुरी पहुँच पाये ।
नाभि नरेश्वर के आगन मे हुआ ठाठ फिर था,
निशा बीतकर ही हो पाया वहा प्रभात यथा ॥४७॥

जिसे देखकर नाभि भूप ने मन मे मोद लिया,
सिहासन पर जिनवर को था विराजमान किया ।
इन्द्राणी ने माता की भी नीद दूर कर दी,
तब उसने भी स्नेह दृष्टि थी अपने सुत पर दी ॥४८॥

हुआ महाराणी का तब था बड़ा प्रसन्न हिया,
मानो वाणी ने सुतत्व को ही हो प्राप्त किया ।
राजा रााणी दोनो का अब आदर किया गया,
त्रिजगद् गुरु के भी गुरु हो यह कह गुण लिया गया ॥४९॥

सुरपुर से लाये वस्त्रादिक भेट मे धर तथा,
किया नृत्य सुरपति ने उनके आगे सुन्दर था ।
पल मे मोटा तो फल मे वह छोटा हो जाता,
नभ मे जाकर पल भर मे भूतल पर आपाता ॥५०॥

पलमे पास और पलमे जो दूर चला जाता,
कभी एक तो कभी अनेक रुप कर बतलाता ।
इत्यादिक रुप से शक्रने नाच कर बताया,
जिसे देखकर मन किसका खुश वहा न हो पाया ॥५१॥

卐 दोहा 卐

वहा वृषभ जिनराज को कह सुरपति ने हाथ ।
जोड़े फिर नतमाथ होबड़ी भक्ति के साथ ॥५२॥

वृषकी भा वह हो पावेगी इनके द्वारा क्योंकि यहां,
जो कि अठारह कोडा कोडी सागर से थी नहीं जहा ।
माता के गर्भ में तथा जो वृषभ रुप से आया था ।
इसीलिये नाम भी इन्द्र को उनका वृषभ सुहाया था ॥५३॥

卐 दसवाँ अध्याय समाप्त 卐

卐 अथैकादशोध्याय 卐

श्री नाभिनरेश्वर समुद्र माता मरुदेवी थी वेला सी,
फिर वे ऋषभदेव उत्पन्न हुए उनके जो सुगुणामृतराशि ।
जगदाह्लादकजिनवरजी तो थे बाल चन्द्रमा तुल्य सही,
तिथियां समान शुभपक्षवती थी जहा देविया धाय रही ॥१॥

कोई थी उन्हें नुल्हाने में कोई पालना झुलाने में,
कोई देवी लगपाई थी उनकी पोषाक सजाने में ।
कोई सुरतरुके फूलों की माला लाकर पहनाती थी,
कोई धीमे धीमे स्वर में उनके पुनीत गुण गाती थी ॥२॥

सुरलोग रहे जो सेवा में अनुरुप वृत्ति करने वाले,
होकर थे रहे पुनीत मना सद्भाव सदा धरने वाले ।
घुटनों के बल चल मन्द हास्य युत मुख जिन जिनको देव नमे,
प्रमुदित करते थे अम्बा को मणि निर्मित घर के आगन मे ॥३॥

भूतल को लाल सरोजों से समलंकृत कर बतलाने को,
प्रस्खलित पदों से चले तथा माता का चित्त रिझाने को ।
मिनमिन के परदे मे आकर नव्या वाणी ने मुख चूमा,
उन देवादिक के समक्ष मे था प्रेम जहा उसका झूमा ॥४॥

यो शैशव को उलाघकर जिनवर बालकपन पर थे आये,
तब देवादिक के साथ वहां नाना विनोद कर दिखलाये ।
फिर बालकपन से कुमारपन पर जगन्नाथजी आये थे ,
उनके गुण भी वपु के समान ही वृद्धिगत हो पाये थे ॥५॥

तनु कान्तिमान् मधुरावाणी अवलोकन सरल सदा जिनका,
मुसकान–सहित सम्भाषण जिससे खुश होता न चित्त किनका।
थी सकल कलाये आपाई स्वयमेव चन्द्रमा तुल्य वहा,
सुमति श्रुत सहित अवधि भी सहसा स्फुरित हो रहा ज्ञान जहा ॥६॥

जैसे समुद्र को सरिताये वैसे ही विद्याये सारी,
आ गई तीर्थ पति को खुद थी जिनके कि पुण्य की बलिहारी।
अतएव देव बालो को लिखकर कभी चित्र दिखलाते थे,
तो कभी उन्हे कविता करने की चतुराई सिखलाते थे ॥७॥

फिर विनोदवश हो जिनवरजी सगीत कभी कर जाते थे,
जनता के मानस मे अटूट वह परमामृत भर पाते थे।
वन केलिके समय पवन देव मृदुमन्द वायु कर देते थे,
फूलो की वर्षा कर सुगन्ध से भूतल को भर देते थे ॥८॥

शुक हो उडने लगता कोई कोयल हो कूक सुना देता,
कोई मयूर बन नाच से वहा प्रभुवर का मन हर लेता।
नदियो मे कभी नाव पर चढ़कर सहसा पार उतरते थे,
भव वारिधि से तर जाने का संकेत तीर्थपति करते थे ॥९॥

समयोचित बातो मे जिनजी का कालक्षेप हुआ ऐसा,
श्रीप्रकृति महादेवी के दिल मे समाया हुआ था जैसा।
जाकर कुमारपन शिशिर तुल्य यौवन वसन्त अब आया था,
जिन तनु उपवन में सौमनस्य ने अपना ठाठ दिखाया था ॥१०॥

तनु जिनकी स्वयं सुवर्णमयी सिन्दूर पूर तारुण्य तना,
सौभाग्य का वहां सहजतया वह अखण्ड था साम्राज्य बना।
धनु पंच शतक उन्नत शरीर चतुरशीति लक्ष पूर्व सारी,
आयु स्थिति अनपवर्त्य जिनकी थी जग में कीर्ति बड़ी भारी ॥११॥

थे सत्तर लाख करोड़ वर्ष फिर छप्पन सहस करोड़ तथा,
इतने वर्षो का एक पूर्व यह जिनवाणी की सही कथा।
था श्रम जल रहित शरीर और मल मूत्र न जिनके हुआ कभी।
शोणित था धवल दूध जैसा अष्टोत्तर सहस सुचिह्न सभी ॥१२॥

था प्रथमोत्तम संहनन सुगंधित शरीर समचतुरस्त्र बना,
अनुपम सौदर्य मधुरवाणी अपराजित बलका ठाठ घना।
परमाह्लादक मुख लख जिनका चन्द्र का चित्त जल गया यत,
हो रहा सदा के लिए क्षयी वह बेचारा चिन्ता भरत ॥१३॥

तपयुग ही दोनो नयन बने थे जिनके मार्ग दिखाने को,
वक्षस्थल था विस्तीर्ण खूब सुषमा का पीठ कहाने को।
था नाभिनाम से हवनकुण्ड दुरितेन्धन दहन निमित्त वहां,
मार्दव था उदर मित्र से आ, मिल रहा देखने को कि जहां ॥१४॥

सुरत रुकी शाखाओ जैसी ही सुदृढ़ भुजाये आयत थी,
दुनिया के लोगो की दरिद्रता की सहजतया घायक थी।
तारुण्य तेज को पाकर थे सारे अवयव परिपक्व बने,
जैसे घृतवर होकर भूतलपर हो पाये हों सुधा सने ॥१५॥

अब एक रोज थे नाभि नरेश्वर जिनवर के आगे बोले,
मानों सुभाग्य ने धर्म देव के आगे अपने दिल खोले ।
यह कर्म भूमिका समारम्भ वर्णाश्रम मूलक होता है,
जिसका भी मूल विवाह अनन्य स्नेहतया समझोता है ॥१६॥

उसको समर्थन आपसे अगर मिल जावे तो ठीक रहे,
यह सारी जनता यहां निरापद रुप जानकर उसे गहे ।
श्री नाभिराय की अभिलाषा इस तरह पल्लवित हुई जहां,
मुसकान कुसुम वृषभाधिराज के मुख पर आया अहो वहां ॥१७॥

थी इन्द्रराज की सहायता पल्लवित उसे फिर करने को,
तब कच्छ सुकच्छ नृपसुतायें आई जिनवर के वरने को ।
सज्ञाये जिनकी भूतल पर थी यशस्वती आनन्दवती,
थी लक्ष्मी सरस्वती की सी जोड़ी जिनकी मृदु मोदवती ॥१८॥

उन जैसी और न कोई भी वनिताओं में गुणरूपवती,
जिसकी उपमा दी जावे तो वह ही होवे अपकारवती ।
फिर भी अनुमता सुकवियों द्वारा वही स्वतः हो ठीक रहे,
वृद्धों के विरुद्ध कौन सयाना इस भूतल पर बात कहे ॥१९॥

उन सरस रीतिवाली जनियों के बीच में जिनप थे ऐसे,
सीता सीतोदासरिताओं के मध्यमेरु गिरिवर जैसे ।
विज्ञप्ति और परिवृत्तियुक्त सम्यग्दर्शन होवे जैसे,
वैसे ही शोभित हुए तीर्थपति उन दोनो सुयुवतियों से ॥२०॥

अब कभी एक दिन निशान्त में था यशस्वती को स्वप्न हुआ,
रवि हंस तटाक उदधि सुमेरु मुख में घसती धरणी विधु बा।
सुख शयनवती बड़भाग्याने देखी ये चीजें सात सही,
फिर चेत हुआ तो प्रसन्न मन था नाममात्र को खेद नहीं ॥२१॥

सरसी समान शय्या को तज उठ खड़ी हुई राजमराली,
दिवसोदय होने पर आई पति समीप फिर वह गुणवाली।
कर नमस्कार बोली कि विभो मुझको आई जो स्वप्नतति,
क्या उसका फल हो यही जानना चाह रही है स्वयं मति ॥२२॥

बोधाम्बुधि जिनजी की जिह्वा शुक्ति से वहां मौक्तिक निकले,
हे देवि ! सुनो उत्तम सुत दायक आये तुमको स्वप्न भले।
रवि अवलोकन से प्रताप युत हंस से यशस्वी तटाक से,
शुभलक्षण मंडित समुद्र से इस भव में ही सब अघ विनसे ॥२३॥

सुरगिरि से धीर वीरता युत विधि से सुकान्तिका धारक हो,
फिर भूमि निगलने से चक्री सुत तेरा होगा क्या न अहो।
यह कथन हुआ जल सिञ्चन तुल्य मनोरथ नामक सुरुंख मे,
सर्वार्थसिद्धि बाहु चरामर आया जिसकी कि कूख में ॥२४॥

उस महाबली के प्रसंग से दुर्बल भी उदर बढ़ रहा था,
विध्वंशकर वलि त्रयका जिसने पाया उत्साह महा था।
यह देख हुए सुप्रसन्न निर्मल नयन दीर्घ दशितया थे,
कुच किंतु कठोर स्वभावकों ने कारिख ली अपने माथे ॥२५॥

था नाभिगर्त भी पूर्ण हो रहा उसके पुण्य प्रचार से,
सारा शरीर हो रहा कि मानों रचा गया अभ्रसार से ।
इस तरह मास नव बीत चले तब वह पूतक्षण भी आया,
जब यशस्वती ने यश·पंजु को गोद आपकी में पाया ॥२६॥

मिट रहा तिमिर तो कुल दीपक से फिर भी दीप जलाये थे,
उस मङ्गलमय सुसमय में मानों पुण्याकुर उग आये थे ।
बाजो की मृदु आवाज हुई वह वहा सुनो हे विद्वानों ?
गगनांगण ही खुदगर्ज उठा था प्रमोद के वश हो मानो ॥२७॥

भरतेश्वर की हो जय ऐसे कह पुष्प सुरोने वर्षाये,
थी मन्द सुगंध पवन निकली अत एव सभी जन हर्षाये ।
नगरी में सभी जगह तोरण या ध्वजा पताकादि लगे थे,
था नाभिराज के पौत्र हुआ जनता के भी भाग्य जगे थे ॥२८॥

श्री ऋषभ जलधि की यशस्वती वेला से वहां कि उपजा था,
जगदाह्लादक उस बाल चन्द्र की कहूँ कहां तक गुण गाथा ।
जो चक्राधिप होने वाला जग के सङ्कट खोने वाला,
फिर अंत समय मे अपने मन के मलका भी धोने वाला ॥२९॥

जिसके शरीर में छत्र दण्ड असि शख गदा चक्रादिक के,
थे बने सुलक्षण जिसकी महिमा कहने में देव भी थके ।
सुरललनाओं केहाथों में जो पला और बढ़ पाया था ।
जिसकी सुन्दरता देख यहां पर किसका मन न लुभाया था ॥३०॥

छह खण्डों के नर सुर लोगों में मिलकर जितना भी बल था,
उससे भी कहीं अधिक बल उसके शरीर में वह निश्छल था।
थी आयु काय भी पिता तुल्य जिसकी मन को हरने वाली,
होती थी कोई भी चेष्टा जिसकी न यहां गुण से खाली ॥३१॥

उस ऐसे सुत को पाकर यशस्वती ने थे बहु सुख पाये,
एकोनशतक सुत और यहा जिसने कि कूख से उपजाये।
वह पीठ चरामर आकर इसके वृषभसेन हो पाया था,
था महा पीठ चर देव अनन्त विजय वह ही कहलाया था ॥३२॥

अहमिन्द्र विजयचर ही अनन्तवीर्याख्य पुत्र पन ले पाया,
फिर वैजयन्त चर देव यहा आकर अच्युत सुत कहलाया।
वह जयन्त चर अहमिन्द्र बना तेजस्वी नामक पुत्र भला,
अपराजित चर सुर वर सुवीर सुत हुआ प्राप्त कीबहुत कला ॥३३॥

इस तरह और भी पुण्य जीव हो पाये उसकेतनय यहां,
जो सब मिलकर थे एक शतक सबने ही अपनाया शिव हा।
फिर धाय पण्डिता की आत्माने सुतारुप में जन्म लिया,
जिसको ब्राह्मी कहकर जनताने आदर उसका खूब किया ॥३४॥

श्री वज्रनाभि के भव में जिनका अनुज सबाहु हुआ वह ही,
सर्वार्थसिद्धि से आकर सुत भुजबली नाम से हुआ सही।
जिसने कि सुनन्दा देवी की कूख को पुनीत बनाई थी,
फिर उसकी ही कूख से सुन्दरी नाम सुता हो पाई थी ॥३५॥

जो वज्रजंघ भव में अनुन्धरी नाम बहिन कहलाई थी,
श्री पुण्डरीक के साथ युवति बन जिसने रति दिखलाई थी।
इस तरह एक सौ तीन हुई सन्तानें जिनजी के सारी,
जिनके पुण्य की प्रभावना इस भूतल पर सबसे न्यारी ॥३६॥

अब एक रोज दोनों बालायें कौतुक युत हो आई थी,
प्रभु के चरणों को नमस्कार करने मे प्रीति बताई थी।
प्रभु ने दोनों को मोह सहित निज गोद में बिठाया तब था,
कंकणादि भूषण गण भूषित मृदु शरीर उनका वह सब था ॥३७॥

यह देख जगत्पति थे बोले विद्या सर्वोत्तम भूषण है,
जिसके कि बिना यह सारा मण्डन इस शरीर का दूषण है।
विद्या से जीवन सफल बने विद्या मन के सब दोष हने,
विद्या से विनीत बन चेतन अधिकार सभी पावे अपने ॥३८॥

विद्याविहीन नर नारी का जगत मे अनादर भारी हो,
विद्या समान और न कोई भी पदार्थ जन हितकारी हो।
अतएव पुत्रियो विद्याका पढना तुम शुरु करो अब से,
पढ़ने के लिए बालपन ही यह उत्तम होता है सबसे ॥३९॥

सिद्धेभ्यो नम कहा ब्राह्मी को तो फिर वर्ण सिखाये थे,
शुभयुत एकादिक अङ्क सुन्दरी से सप्रेम लिखाये थे।
ब्राह्मी को तो दक्षिण कर से जिन नायकने था लिखा दिया,
सुन्दरी वाम गोडे पर थी तब वाम हस्त से काम लिया ॥४०॥

अक्षर तो चौसठ थे सारे फिर अंक सबी दश हो पाये,
लेकिन चोसठ का योग किया तो दश ही वे भी हो पाये ।
शुभ अनन्त एक असख्य और सब संख्यावाले कहलाये,
हीनाधिकता हो जावे जिन में भाग गुणनकर बतलाये ।।४१।।

सब कला कुशलता वाङ् मयमूलक ही होती है अहो यहां,
वाङ् मयका फिर अध्ययन कराया गया उन्हें था अतः वहा ।
छन्दो व्याकरणालङ्कृति जिसमें तीनों ही आजाते हैं,
जिनके बिना न हम किसी शास्त्र के भी रहस्य को पाते हैं ।।४२।।

था रचा गया व्याकरण एक अत्युत्तम अध्यायशतक में,
ऐसा वृद्धों के श्रीमुख से है हुआ स्पष्ट मालूम हमें ।
बतलाकर अंलकार सारे छन्दों का शास्त्र बनाया था,
जिसको उन दोनों बालाओं ने हृदयङ्गम कर पाया था ।।४३।।

फिर इसी तरह से पुत्रो को भी अपने पास बुलाया था,
उनको भी उपर्युक्त बातों कापूरा ज्ञान कराया था ।
हा खास तौर से अर्थ शास्त्र भरतेश्वर कोबतलाया था,
जिसके बल पर वह सहज तया षट् खंडाधिप हो पाया था ।।४४।।

सगीत शास्त्र फिर वृषभसेन सुत को रचकर सिखलाया था,
सौ से भी ज्यादा अध्यायो में जो कि पूर्ण हो पाया था ।
सिखलाया वहां अनन्तविजय को वास्तुशास्त्र फिर चित्रकला,
जिससे कि समाश्रय पाकर लोगों का हो जाये सहज भला ।।४५।।

भुजबली पुत्र को आयुर्वेद दिया कि बने यह मृदु भोगी,
तेजस्वी को फिर धनुर्वेद जन सरक्षण में उपयोगी ।
स्त्री पुरुषों के लक्षणवाला अच्युत को शास्त्र पढ़ाया था,
श्रीसुवीर को रत्न परीक्षण करने में निपुण बनाया था ॥४६॥

इस तरह और भी पुत्रों को एकैक विषय था मुख्य दिया,
लोकोपकार कारक शास्त्रों में जिनजीने उत्साह लिया ।
उस समय सुशिक्षित सन्तानों से सुरुचि हुई जिनकी ताजी,
शरदागम का उद्दीप्त सूर्य भी ले न सका उनसे बाजी ॥४७॥

卐 कुण्डलिया 卐

ऐसे पुत्र कलत्रयुत जिनका कुमारकाल,
चौरासी में बीस मित बीत रहा खुशहाल ।
बीत रहा खुशहाल कल्पवृक्षों का सारा,
सहजोत्पन्न अनाजों का भी रहा न चारा ॥
हा हा भोजन बिना प्राण रह पावे कैसे,
सभी प्रजा के लोग हुए तब चिंतित ऐसे ॥४८॥

卐 ग्यारहवां अध्याय समाप्त 卐

अथ द्वादशाध्यायः

श्रीवृषभेश्वर के चरणों की सेवा में चलकर बोलो,
इधर से उधर बेमतलब ही क्यों विह्वल होते डोलो ।
उनकी कृपा नदी में मज्जन कर अपना संकट खो लो,
अवृत्तिता की घोर अग्नि से जले हुए दिल को धो लो ॥१॥

ऐसी नाभिराज की सम्मतिपाकर तब सब आये थे,
आकर आर्यजनों ने अपने अपने शीश झुकाये थे ।
जिन्हें देखकर तीर्थनाथ भी करुणान्वित हो पाये थे,
अतः चित्त अपने में ऐसे विचार झट अपनाये थे ॥२॥

भोगभूमि तोगई और अब कर्म भूमि आ निकट रही,
अतः विदेह क्षेत्र सरीखी रचना हो है ठीक यही ।
श्रीप्रभु के इस सद्विचार को सूत्र मानकर शचीश ने,
कुबेरादि को हुक्म दिया तब निम्न लिखित थे ठाठ बने ॥३॥

शुभ मुहूर्त उत्तम लग्न तथा स्वोच्चस्थित थे खेट सभी,
श्री जिन के चरणों में नमकर किया गया आरंभ तभी ।
कौशलादि तो देश और साकेतादिक थे नगर बने,
उपवन कूप वापिकादिक युत जहां ग्राम हो रहे घने ॥४॥

कोई तो थे देश बने जो वर्षा से उपजाऊ थे,
कूप नदी नहरादि द्वारा कोई किन्तु कमाऊ थे ।
कुछ साधारण थे जिनमे दोनो बातें होपाई थी,
उन तीनों देशो में ही जनता को गई बसाई थी ॥५॥

इन्द्रादिक देवों ने जिस पर किया अनुग्रह था भारी,
पुलकित थी हो रही भूमि मानों प्रसन्नता से सारी ।
समुद्र के तट से विद्याधर गिरि तक जिस पर पृथुता ली,
जाङ्गल अनूप साधारण यों तीन भांति रचनावाली ॥६॥

उन देशों के प्रान्तभाग पर दुर्ग बनायेगये यहां,
अन्तपाल लोगों के थे अतएव उपद्रव रहा कहां ।
अन्तराल भागों से आरण्यक लोगों ने प्रेम किया,
ग्राम नगर के बीच में जहां बनियों ने था स्थान लिया ॥७॥

प्रतिप्रान्त मध्य में राज धानी प्रसिद्ध हो पाई थी,
जिसके चारों ओर विशद पर कोटा तथैव खाई थी ।
जिसके इरद गिरद में ग्राम पुरों की छटा सुहाई थी,
इन्द्रकादि युतसुरस्थान की सी शोभा दिखलाई थी ॥८॥

शूद्र और कर्षक लोगो का जहा कि ठाठ जमा होवे,
कांटों की वृत्ति से समन्वित सदन सकल संकट खोवे ।
बागबगीचा तालाबादिक की बहुतायत रहे जहां,
उसको ग्राम कहा करते हैं हे पाठक तुम सुनो यहा ॥९॥

सौ घर वाला लघुग्राम, पांचसौ घरों का हुआ बड़ा,
जहां किसानों के मुखिया का स्थान था किया गया खड़ा ।
बनियों का बाजार जहा पर यथा विधान बना होवे,
यातायात वस्तुओं का फिर वह पुर सब संकट खोवे ॥१०॥

केवल पर्वत से सम्वेष्टित खर्वट नाम कहाता था,
नदी और पर्वत संयुत वह खेट नाम को पाता था ।
नदी तीर पर वही द्रोणमुख धान्यादिक सम्वाह वही,
समुद्र के तट पर जो भी था उसका पत्तन नाम सही ॥११॥

इत्यादिक जनपद रच कर जनता को वहां वसाया था,
नाम पुरन्दर इन्द्र का वहां सार्थक तब हो पाया था ।
स्त्रष्टाने उस जन समूह के तीन भेद कर बतलाये,
जिनकी भुजा स्फूर्तिवाली थी उनको क्षत्रिय ठहराये ॥१२॥

जाने आने के बारे में जो थे जंघा बलशाली,
उन लोगों ने जिनवरजी से वहां वैस्य संज्ञा पा ली ।
केवल चाटुकार तत्पर थे उन्हें शूद्र था ठहराया,
वर्णत्रय के रुप में प्रजाने था नया जन्म पाया ॥१३॥

अतः पितामह कह लोगों ने तीर्थनाथ का यश गाया,
जिसके समादेश में निम्नाङ्कित कार्यक्रम था पाया ।
असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, फिर विद्या के द्वारा करना,
वृत्ति किन्तु दो दो में क्रम से तीनों को हो दिल धरना ॥१४॥

असि कौशल से भय दिखलाकर जनता का रक्षण करना,
लेख द्वारा प्रबन्ध करने में सचिवादिपना धरना ।
इन दोनों कर्तव्यों में हो क्षत्रिय लोगों का चारा,
अबल को न बलवान सतावे ऐसे होवे निस्तारा ॥१५॥

भूमि जोतकर अन्नादिक पैदा करने की चतुराई,
जहां कमी जिस चीज की वहां वह ही जावे पहुँचाई ।
इसके हेतु रुप से पशुपालन में भी हो सुघड़ाई,
इन दोनो बातों में वैश्यों का हो हाथ सदा भाई ॥१६॥

अपने कर कौशल से भाण्डादिक रच्च कर सुविधा देना,
अथवा सगीतादि से प्रजा के चित्त को रिझा लेना ।
मिले पारितोषिक जो उससे हो निर्वाह बन्धुओं का,
शूद्रों के घर विपज्जलधि से तरने को यह ही नौका ॥१७॥

आवश्यकताओं का पुतला नर शरीर यह होता है,
जिनकी परिपूर्ति के न होने से मानव मन रोता है ।
सबसे पहिली आवश्यकता अन्न और जलकी होती,
उसके पीछे गृहस्थ लोगों की टागों में हो धोती ॥१८॥

इन दोनो के बिना जगत में कभी न होवे निस्तारा,
पेट पालने से ही हो सकता है भजन भाव सारा ।
अन्न वस्त्र दोनों खेती से मिल सकते हैं हे भाई,
खेती की उपयोगिता यही जगन्नाथ ने बतलाई ॥१९॥

खेती का उत्पादन वर्धन वैश्यों को बतलाया था,
संरक्षण जिसका क्षत्रिय लोगों के जुम्मे आया था ।
सम्पादन करना उसका शूद्रों को ठीक बताया था,
संजीवनोपाय में प्रभु ने सबको वहां लगाया था ॥२०॥

अत: प्रजापति कहकर उनका यश लोगो ने गाया था,
जिनके कहने को तनमन से सबने ही अपनाया था ।
गोधूमादिक बीज के लिए विदेह से तब आये थे,
उन्हें यथाविधि जमीन में बोकर उनके फल पाये थे ॥२१॥

बैलों द्वारा खेती करना जिनजी ने बतलाया था,
अपने वृषभ नाम को ऐसे उद्योतित कर पाया था ।
बैलों की जननी गो उसका संपोषण सिखलाया था,
उसका दूध निकाल आर्य लोगों को खूब पिलाया था ॥२२॥

ऊँट वगैरह से बोझा ढोने को भी बतलाया था,
पशुपति गोपति नाम वृषभका यों सार्थक हो पाया था ।
आपसमें बासों से भिड़कर अग्नि वहां हो पाई थी,
जिससे अन्न सेक कर खाने की विधि भी बतलाई थी ॥२३॥

नये नये आविष्कारों से उन्नति कर दिखलाई थीं,
ब्रह्मा और विश्वकर्मा जैसी संज्ञाये पाई थीं।
और भी सुभग रीतियां वहां प्रभुवरने सिखलाई थीं,
स्त्रष्टा और विधाता जैसी संज्ञायें तब पाई 'थीं ॥२४॥

तीनों अपना अपना कार्य करें दिल में विक्षेप न हो,
एकका इतर के प्रक्रम में कदापि हस्तक्षेप न हो ।
वृष फिर अर्थ काम जैसे मिलकर चलने से सफल बनो,
जीवन हो दु:ख से मुक्त तुम लोगों का ऐसे सुजनो ॥२५॥

क्षत्रिय मस्तक सदृश वैश्य उदरोदय जैसे,
शेष पैर जिनके कि बिना चलना हो कैसे ।
एकदेह के अंग सभी सुन्दरता वाले,
हृष्टपुष्ट हो रहो परस्पर को सम्भाले ॥२६॥

एक बात फिर याद रहे तुम सबको भाई,
भोग भूमि जाकर कर्मावनि है अब आई ।
अतः सहज होने वाली मनकी चपलाई,
को अकुश दे रखना ताकि बने सुखदाई ॥२७॥

चोरी जारी और जुवारी पनसे बचना,
तथा नशीली चीजों को खाकर मत मचना ।
निशा दिवसका स्पष्ट भेद अब हो आया है,
कीटादिक के प्रसार की प्रगटी माया है ॥२८॥

जल मे जलचर जन्तु हो चले हैं गुण केतो,
पानी पीओ छान वस्त्र से इसीलिये तो ।
पहिले से भी भूख अधिक अब है हो आई,
पूर्वापर भाग मे दिवस के खाओ भाई ॥२९॥

किन्तु रात्रि में खाने की है सख्त मनाई,
जहां जन्तु सम्पात न देता है दिखलाई ।
अतः निशाचरता तामस गुणकी है साई,
मानवता क लिए नही अनुकूल बताई ॥३०॥

वट पीपल गूलरादिक क्षीरी वृक्षो के,
फल खाने के योग्य नहीं सद्‌गुणरक्षों के ।
बदरीफलादि को भी तरास करके खाना,
यदि उसमें लट हो तो उसको दूर भगाना ॥३१॥

मांसाहार शिकार विश्व में विप्लवकारी,
हिमके द्वारा नष्ट हो रहे ज्यों फुलवारी ।
इत्यादिक सब नियम बना कर करुणाधारी,
ऋषभदेव नेलोगो की थी व्यथा निवारी ॥३२॥

योगक्षेम निमित्त प्रभु ने दण्ड बताये,
हा मा धिक् ये तीन दुरन्तों को डरपाये ।
भय देने को मुख्य दण्डधर चार बनाये,
हरि काश्यप सोमाभ अकम्पन नाम सुहाये ॥३३॥

नृप एकैक हजार किये जिनके नीचे थे,
जन हित जल से जिनने अपने दिल सीचे थे ।
नाथ नाम से वश अकम्पन का कहलाया,
यथा नाम हरि राजा का जब था हो पाया ॥३४॥

उग्रवंश नामान्तर काश्यपकुल को भाया,
कौरव ऐसा सोमवंश का नाम सुहाया ।
ये चारों तो महा माण्डलिक नृप हो पाये,
कच्छ महाकच्छादिक थे अधिराज कहाये ॥३५॥

जो कि हुए उन उन शाखाओ के अधिकारी,
वैश्यो ने होसुमन वहां उत्तम रुचि धारी ।
पल्लव बनकर शूद्रलोग भी थे हर्षाये,
वंशवृक्ष महती छायायुत यों बन पाये ।।३६।।

卐 दोहा 卐

भृखो मरते आर्यजन जब आये थे पास ।
उन्हे पिलाकर इच्क्षुरस वहा हरी थी त्रास ।।३७।।

कहलाये इक्ष्वाकु थे इसीलिये भगवान ।।
उनका इस ही नाम सेफैला वंश महान ।।३८।।

सारी जनता के ऋषभ बने हृदय सम्राट ।
जिनकी सुदया के बिना बहथी बारा वाट ।।३९।।

卐 बारहवॉ अध्याय समाप्त 卐

卐 अथ त्रयोदशोध्याय: 卐

एक रोज जो इस जगती के उत्तम वर थे,
बैठे श्री जिनराज राजसिंहसन पर थे ।
जन विनोद के लिए रचा हरि ने नाटक था,
चित्त शोध के लिए खुला मानों फाटक था ।।१।।

क्योंकि वहां जो नृत्यकारिणी खड़ी की गई,
उसे खा गया चटपट ही था काल निर्दयी।
दिव्यबोध धर जिनवरजी ने जब यह देखा,
सोचने लगे क्षणभंगुर है जग का लेखा ।।२।।

धन यौवन सदनादि विनश्वर है ये सारे,
जिन्हें देख यह मोही मानव खुश होता रे ।
आत्मन् ! देखो तो कि कहां तक यह टिकने का,
है शरीर ही नाम यहां जब इस पुतले का ॥३॥

दिव्यदेह भी इसका पल में खिर गया अहो,
पामर नर के देहकी कथा कौन फिर कहो ।
क्या मालूम कि कब आ इसको काल दबावे,
भेड़िया यथा अजा तनय को चट कर जावे ॥४॥

फिर भी यह कुछ सोचता न अपने हितकी है,
गोरख धन्धे में ही इसने तो रति ली है ।
कहता है इन वनितादिक को क्यों न रिझाऊं,
जो हैं मेरे साथ इन्हें मै कहॉ भुलाऊं ॥५॥

हे भाई । यह ठाठ यहा का यहां रहेगा,
परभव के कूंचकी एक दिन तूं कि कहेगा ।
कोई भी क्यासाथ कहो तेरी जावेगा,
अपनी दुष्करणी का फल तूं खुद पावेगा ॥६॥

औरों की क्या बात देह भी जो कि मिला है,
एकसमझकर जिसे तुम्हारा हृदय खिला है।
यह भी तो हो रहे भस्म साथ में न जावे,
यह है जड़ नश्वर तूं चेतन नित्य कहावे ॥७॥

जिसके पीछे पड़ खुदको भी हैं तूं भूला,
मोटा ताजा देख इसे फिरता है फूला ।
मा बापों के रजोवीर्य से जो कि बना है,
हाड़मांस मल मूत्रादिकमय घिनावना है ॥८॥

इसके धोने और पौंछने मे जुट पाया,
जहा जरासा दुबला देखा तो घबराया ।
दुर्जन जैसे उपकृत होकर भी इतराया,
यह तो ताकि तुझे उत्पथ की ओर बढ़ाया ॥९॥

ऐसे दुःखद हुई सर्वदा इसकी यारी,
पलभर के भी लिये न तूने समता धारी ।
अब तो इसकी चिता तज करले तैयारी,
स्वास्थ्य के लिए भूतलपर हे विचारकारिन् ॥१०॥

सयम औषध समभावात्मक पथ्य से गहो,
ताकि सयाने सदा के लिए सुखी हो रहो ।
वह अनादि से समुत्पन्न भवरोग नष्ट हो,
जन्म मरण का फिर न कभी भी तुझे कष्ट हो ॥११॥

विषयो की आशा को अब तो दूर हटाओ,
उसके पीछे ही अपने मन को न सटाओ ।
वरना तो फिर जगमे जैसे और लोग हैं,
वैसे तुम भी हुए तुम्हे क्यों ऋषभ हम कहें ॥१२॥

भोगों मे अज्ञानिजनों का सदा चाव है,
भोग छोड़ योग को गहे यह बोधिभाव है।
दूर्लभहै यह इस दुनियादारी के जनको,
क्योंकि आत्ममय माना करता है वह तनको ॥१३॥

किन्तु मोह को तजकर इस शरीर के द्वारा,
त्याग तपस्या करना ही परमामृत धारा।
जिसके बिना नहीं हो सकता है निस्तारा,
अब उसको ही अपनाना कर्तव्यतुम्हारा ॥१४॥

ऐसे लोकान्तप्रदायिनी भावना जगी,
प्रभु के दिल में मुक्तिश्री से जहा लौ लगी।
लौकान्तिक देवों ने आकर फूल चढ़ाये,
मानों अपने निर्मल दिल ही थे दिखलाये ॥१५॥

कर सरोज तो सहजतया मुकुलित हो पाये,
सुरर्षियों के जहां जिनेन्दु निकट थे आये।
खुले कौमुदाधीनतया मुख उनके ऐसे,
फैला मृदु मकरन्द तुल्य सुवचन उनमें से ॥१६॥

प्रभो ! आपने आज समुत्तम मति असि नांपी,
जिसे देखकर यहां मोह की सेना कांपी।
अष्टादश कोड़ाकोड़ी सागरोपमों से,
जो था विप्लव कर रहा यहां निजकर्मों से ॥१७॥

लूट लिया इन दीनों का निज वैभव सारा ।
विरुद्ध में कोई ने भी क्या तेग संभारा ।
उसे आपने सहसा ही उठकर ललकारा,
क्या गावें हम इससे 'वेशी सुयश तुम्हारा ॥१८॥

प्रभो ! आपके सुसन्देशमय यानद्वारा
पावेंगे बहु भव्यजीव भवसिंधु किनारा ।
हो शिवपुर के सार्थवाह राह पर करोगे,
भववन में भटकते पथिक के कष्ट हरोगे ॥१९॥

ऐसे कह वे चलेगए सब थे स्वस्थल को,
लेकर आया शचीनाथ फिर निजदल बल करो ।
क्षीरोदधि जल लाकर उससे श्री जिनवर का,
किया गया अभिषेक अहो ! उत्तम गुणधर का ॥२०॥

वस्त्राभूषण यथारीति पहिनायेसारे,
मुक्तिश्री के बनाये गये दुल्हा प्यारे ।
श्री सुदर्शना नाम पालकी थी रचीगई,
मणिमण्डित हेम द्वारा प्रस्पष्ट रुचिमयी ॥२१॥

उन लोगों के कि नाम से देश बंटे थे,
नीर पूरके ही मानों सब स्त्रोत छटे थे ।
ऐसा मैंने वृद्धों के मुख से सुन पाया,
वही पाठकों के लिए यहां लिख बतलाया ॥२२॥

प्रभुने तब सब राज्यभार भरत को दिया था,
बाहुबली को भूतल का युवराज किया था ।
और सुतों को दिए यथोचित देश वहा थे,
छोड सकल सम्भार हुए निर्द्वन्द्व यहा थे ॥२३॥

पहले थी पालकी उठाई भूमिचरों ने,
सात पैण्ड तक विद्या के फिर अधीश्वरो ने ।
आगे को लेचले देव थे उसे भक्ति से,
बैठे थे जिनराज अहो जिसमें विरक्ति से ॥२४॥

जिनके बगलो मे ढुरती थी चामरावली,
निर्वृति देवी के कि कटाक्षो की छटा भली ।
सिर पर उनके लगाया गया आतपत्र था,
यशः पुंज के समान जो कि महा पवित्र था ॥२५॥

चलने लगी वहां पर मन्द सुगन्धित वायु,
शब्द सुनाई दिए रहें जिनराज चिरायु ।
गन्धोदक की बून्दें टपक रही थी ऐसे,
संभ्रमवश आकाश पसीज चला हो जैसे ॥२६॥

दुन्दुभि आदिक वादित्रो का नाद हुआ था,
जिसको सुनकर मदनराज का मान हुआ था ।
ताकि हाथ से उसके स्खलित हो चले मानो,
बरस रहे थे फूल सुनो तुम हे विद्वानों ॥२७॥

चली जा रही थी आगे सब दिक्कन्यायें,
हाथों में मङ्गलद्रव्य जिनने कि उठाये ।
नाच रही थीं रम्भादिक सब सुराप्सरायें,
गंधर्वों ने जहां सुरीले गाने गाये ॥२८॥

इत्यादिक सब ठाठ मनोहर थे हो पाये,
धीरे धीरे चलकर पुर से बाहर आये ।
वहीं एक जङ्गल में मंजुल वट पादप था,
जिसके छाया के वैभव की क्या कहें कथा ॥२९॥

उसके मूलभाग में चन्द्रकान्त सुशिला थी,
रखी कि जिस पर लिखा साथिया सुखका साथी ।
इन्द्राणी ने रत्नचूर्णमय अपने करसे,
फूल बरसने लगे जहां पर थे अम्बर से ॥३०॥

चन्द्रोपक अतएव लगाया गया वहा था,
ध्वजा पताकायें भी जिस पर थी यथा तथा ।
वहां धूप की धूम दशो दिश फैल रही थी,
मानों प्रस्थान की पापने बात कही थी ॥३१॥

नाना मङ्गलकारक और पदार्थ जहां थे,
विनयसहित जिनजी को सुर ले गये वहा थे ।
सुकृत लता की भांति शिला प्रभु को वह भाई,
अत उतरकर उसे पालकी से अपनाई ॥३२॥

हुई वहां तब थी प्रभु की सामयिक सदुक्ति,
अब तक तो की गई बन्धुओं लौकिक युक्ति ।
किन्तु सदा के लिये कष्ट से पावे मुक्ति,
यह नर उसकी की जाती है आज निरुक्ति ॥३३॥

इसका उत्तर और न कुछ भी दिया दिखाई,
जय हो ऋषभदेव की ऐसी सद्ध्वनि आई ।
क्षणभर कोलाहल मचकर नीरवता छाई,
तब सिद्धेभ्यो नमः यही बोले जिनसांई ॥३४॥

वस्त्राभूषण तनु परसे थे दूर हटाये,
जिन पर दुनियांदारी के जन रहें लुभाये ।
जग की जड चेतन चीजों में मेरा कुछ भी,
नहीं किन्तु मेरे से देखो भिन्न हैं सभी ॥३५॥

आयुकर्म के अधीन यह केवल शरीर है,
इसमें भी निर्ममत्व होकर ही सुधी रहे ।
अपरिग्रह बनकर यों रहना ही गुणकारी,
निरारंभरूप से आत्महितकी फुलवारी ॥३६॥

आकिंचन्य इस तरह से प्रभु ने अपनाया,
केशों को भी घास की तरह नोच बगाया ।
पूर्वोन्मुखहो तनूत्सर्गसद्ध्यान लगाया,
मौनसहित जिन दीक्षा श्री से प्रेम दिखाया ॥३७॥

उसी समय उपहार रूप में ऋद्धियां तथा,
मन.पर्यन्त ज्ञान भी हुआ समुद्भूत था ।
षण्मासावधि अकम्प सुरगिरि तुल्य हो रहे,
शीतातपादि घोर परीषह देह पर सहे ॥३८॥

जिनवर के केशों को स्फटिक पिटारे में धर आदर से,
क्षीरोदधि पधराने को देव ले गये थे चिरसे ।
बिछुरे हुए चन्द्र कासंगम ही था मानो करा दिया,
उस कर्तव्य द्वारा उन सबने ऐसा तब सुयश लिया ॥३९॥

卐 दोहा 卐

वसनादिक जिनराज के, उतरे हुए ललाम।
थे उनको लेकर गये, इन्द्रादिक निज धाम ॥४०॥

चैत्र बदी नवमी दिवस, ऋक्ष उत्तराषाढ ।
शुभ मुहूर्त अपराह्न में,दीक्षा ली गुणगाढ़ ॥४१॥

卐 तेरहवाँ अध्याय समाप्त 卐

卐 अथ चतुर्दशोध्यायः 卐

डटे रहे पहिले तो आजीवन का पाठ पढ़ाने को,
फिर साहसपूर्वक आत्मोन्नतिका भी मार्ग दिखाने को ।
निरत हो रहे उन्हीं ऋषभ का क्यों न आज अनुकरण करो,
हे महानुभावों ! तुम भी ऐसे हीअपने कर्म हरो ॥१॥

ऐसे स्वामिभक्तिवश हो कच्छादिक मुनि हो पाये थे,
चार हजार भूप जिनके दिल कोमलता पर आये थे ।
किन्तु भूख आदि के परीषह उनके सम्मुख आये थे,
सह न सके उनको इस कारणसे सहसा घबराये थे ॥२॥

कोई पाचसात दिन तो कोई दर दिन तक टिका रहा,
पक्ष मास फिर सार्द्धमास तकतथा किसी ने मौन गहा ।
किन्तु अन्त तक कोई भी क्या जिनवरजी के साथ रहा,
परीषहानल से सबका ही मोम सरीखा धैर्य बहा ॥३॥

कहने लगे परस्पर तब यों कौन कर सके बराबरी,
शश जैसे हम लोगों मे से हैं यह देखो प्रवर करी ।
अद्‌भुत धैर्य और जंघाबल इनका तो है इस जग में,
पर्वत जैसे निश्चल देखो खड़े किस तरह हैं मग में ॥४॥

हमने समझा था कि एकदिन या दो दिन तक ठहरेंगे,
इन्हें हो लिये कई मास अब कब वापिस फिर पहरेंगे ।
इसका है मालूम किसे क्या बोलो कैसे क्या करना,
क्या इनके पीछे लगकर बेमतलब बिना मौत मरना ॥५॥

खुद खाकर फिर हमें खिलाकर ऐसा भी यदि करें सही ,
किन्तु इन्हें तो खान पान की भी न अहो ! परवाह रही ।
नरपतियों के संधि आदि छह गुण भूपर हैं गये कहे,
कोई भी न वहांऐसा जैसा प्रभु हैं कर दिखा रहे ॥६॥

बहुसकटाकीर्ण वन में निरुपाय इस तरह खड़े अहो,
प्राणसमर्पण करने को क्यों यहा भला भगवान कहो ।
प्राणहारि इस तप से हम तो ऊब चले हैं हे भाई !
प्रभु कैसे हैं खड़े निडर यह समझ मे न मेरे आई ॥७॥

मेरी तो है राय कि जब तक इनका योगपूर्ण होवे,
बनके कन्द मूल फल खाकर हम अपना संकट खोवें ।
कोई है चारा न और फिर जिससे दिल का मल धोवें,
निरुद्यमी होकर ऐसे बैठे बैठे कब तक रोवें ॥८॥

चलना चाहो चल सकते हो वापिस घर पर किन्तु कहीं,
भरत कहें तुम कैसे आये कहो छोड़कर उन्हें वहीं ।
अतः चरण सन्निकट इन्हीं के हम तो समय बितावेंगे,
इनके पावन दर्शन से हीअपने दुरित खपावेंगे ॥९॥

ऐसा विचार कर थे स्वेच्छाचारी फिर हो चले जहां,
वनके संरक्षक सुरने आकर फटकारा उन्हें वहां ।
क्यों करते हो सरल दिगम्बर वेश को कहो लज्जित हो,
अगर न शक्ति तुम्हारी तो फिर और वेश धर यहां रहो ॥१०॥

कायर के न योग्य यह इसको महापुरुष ही लेते हैं,
जो आरम्भ परिग्रह को स्व समीप न आने देते हैं ।
यथाजात निश्चिन्तसदा दुनियादारी की बातों से,
दूर रहा करते है दुस्तर कामभोग की घातों से ॥११॥

जगत्पूज्य इस शुद्धवेशको तुमने दूषित किया यदि,
मारूंगा मैं ऐसा सुनकर डरे अनुत्तर गुणास्पदी ।
हो लाचार सभी ने अपनी अपनी थी प्रकृति विगारी,
लिया किसी ने सोटा करमे ंऔर हुआ चोटा धारी ॥१२॥

लगोटा तृणगटी कटी में तनु में भस्म रमाई थी,
ऐसे नाना वेश बनाकर अपनी जान बचाई थी ।
किन्तु ऋषभ की भक्ति चित्त में उनके खूब समाई थी,
अतः उन्ही के चरणों में लौ उनने वहाँ लगाई थी ॥१३॥

पर्ण कुटीर बनाकर रहने लगे सुना जैसा हमने,
तापस परिव्राजकादिक मतके थे ये ही बीज बने ।
उनमें भी तो मुख्य ऋषभ का पोता मरीचि नामक था,
जिसके द्वारा साख्य योग मत की प्रसिद्ध थी हुई कथा ॥१४॥

ऋषभदेव भगवान वहीं थे खडे अकम्प मेरु जैसे,
परम गम्भीर भाव के धारक मानो जलनिधि हो वैसे ।
पवन सदृश निःसंग गगन की भांतिलेप से वर्जित भी,
तप्त सुवर्ण समान देह जो कुछ भी विकृत न हुआ कभी ॥१५॥

सामायिक था शास्त्र लिया सयम का पहिना अङ्गरखा,
गुण ही थे सैनिक जिनके साथ में सहज से हुए सखा ।
कर्म शत्रु पर जय प्राप्त करने का प्रभु ने ध्यान रखा,
और किसी की ओर ऋषभ भगवान ने अत· नहीं लखा ॥१६॥

छह महिनों का अनशन लेकरयद्यपि कायोत्सर्ग खड़े,
किन्तु न कुछ भी थका न तनु में दृढतासे थे रहे अडे ।
सिर पर जटाल वाल हवा से इधर उधर उड़ने वाले,
ध्याव वह्नि से दग्ध कर्म काष्ठ की धूमवत् थे काले ॥१७॥

प्रभु के तपस्तेज से फैली सदा एकसी कान्ति रही,
वन में अत· न हो पाया था रात दिवस का भेद कहीं ।
फूल फलों से विनम्र थीं सारे वृक्षो की शाखायें,
मानो तीर्थनाथ के चरणो को कैसे भी छू पाये ॥१८॥

पुष्पित हुई वन लताओ पर गूंज रहे थे मधुप जहा,
मन्द वायु वश होकर जिनके पल्लव हिलते थे फिर हा ।
वेणुध्वनि में प्रभु का यशोगान कर रही है नाच रही,
ऐसा होता था प्रतीत जिससे कि वहां पर सही सही ॥१९॥

आस पास के वृक्षों पर से जहां कि फूल पड़ रहे थे,
प्रभु के चरणो में मानों श्रद्धाजलि ललित धर रहे थे ।
बैल बाघ गज सिंह कपोत बिलाव आदि निर्बैर बने,
क्योंकि विश्व मैत्री को लेकर जगद्बन्धु थे ध्यानसने ॥२०॥

देखो जो कि हवा भगवच्चरणों को छूने आता था,
प्रसाद रूपसुरभि उनके चरणो कीलेकर जाता था ।
ताकि उसे फैला कर सबके रोग शोक हर पाता था,
मनुजों की तो बात कौन देवों को भी वह भाता था ।।२१।।

निम्पृहता के आराधक होकर तो थे भगवान खड़े,
किन्तु जगज्जन उनही के चरणों के थे स्पृहयालु बड़े ।
हाथी जैसे भी अपने हाथों मे सरोज लाते थे,
उत्सुकता से आकर उनके आगे स्वयं चढ़ाते थे ।।२२।।

ऐसे ध्यानस्थावस्था में खडे ऋषभ छह मास रहे,
यहां जान है देख अटलता को ऐसा भी कौन कहे ।
भूपर आरोपित जंघायें लम्ब बाहु नासादृष्टि,
होकर अन्तस्तत्व परखते रहे क्षमादिगुण समष्टि ।।२३।।

इसी बीच में नमि च विनमिने आकर ऐसे वाक्य कहे,
हम दोनों को कैसे तुमने भुला दिया जगदीश्वर है ।
भरतादिक सब बन्धुवर्ग को यथा योग्य हैं देश दिये,
हमें न कुछ भी दिया आपने क्यो ऐसे हैं पृथक किये ।।२४।।

आप सरीखे विश्व बन्धु को बात चाहिये क्या ऐसी,
एक वर्ग का मालिक भी भूतलपर करे नही जैसी ।
खैर हुआ सो हुआ किन्तु अब दीन दयालो ! करो दया,
तब धरणीन्द्र देव का आसन सहसा ही था कांप गया ।।२५।।

वह आकर बोला कि बालको क्यों तुम कहो यहां आये,
तुम्हीं देखते हो कि नहीं प्रभु कुछ भी अहो साथलाये।
इनने तो है भरतेश्वर को किया अधिष्ठाता सबका,
लेना हो सो लो उससे वह नाथ तुम्हारा है अबका ॥२६॥

तब उन दोनों ने कहा कि हे वृद्ध महाशयजी ! सुनिये,
प्रभु सेवक के बीच आपने क्यों संकुचित विचार किये।
है क्या इनके पास न अब भी देखो तो सोचकर जरा,
जहा खड़े हैं वहीं हो रहा नन्दन वनसा हरा भरा ॥२७॥

देने वाले ये फिर इनसे लेने वाले हम जब हैं,
देगे तो लेगे वरना कह रहे आपको हम कब हैं।
किसने कहा आपसे फिर हैं आप वकालत क्यों करते,
अनधिकार चर्चा करने से भी न जरा मन में डरते ॥२८॥

भरत भूप को भी तो देखो देने वाले ये ही हैं,
इन्हे छोड़ उनसे हममांगे क्या हम भी कुस्नेही हैं।
चातक घन का जल पीता है तृषित अन्यथा रहता है,
हमको भी देगे स्वामी यह चित्त हमारा कहता है ॥२९॥

तब फिर धरणेन्द्र ने कहा कि मुझे तुम समझो प्रहरी,
ऋषभदेव का जहां तुम्हारी भक्ति हो रही है गहरी।
अत तुम्हारा मेरा इस भूतल पर है भाई चारा,
तुम्हें देख मन मेरे में बह चली खुशी की है धारा ॥३०॥

यद्यपि हो तुम तरुण देह से वृद्ध चित्त से फिर भी,
है आचार विचार तुम्हारे श्लाघा के योग्य सभी ।
तुम लोगों के गुण से ही आकृष्ट हुआ आया हूँ,
नागकुमारों का अधिपति मैं जग में कहलाया हूँ ॥३१॥

मेरे साथ चलो मैं तुमको मालामाल करुंगा,
ऋषभदेव की आज्ञा के पालन का सुयश वरुगा ।
यह सुन दोनों खुश हो बोले कि अहो ! श्रीजिनवरजी,
सचमुच राजी हैं हम पर है हुई कहो क्या मरजी ॥३२॥

तब उनको विश्वास दिलाकर गुरुचरणों मे नति की,
फिर उन दोनों सहित गगन पथसे फणिपतिने गति की ।
ताप प्रकाश संयुत रवि की तरह दीप्तिका धारी,
प्रश्रय और विनययुत मानों भाग्य सकल सुखकारी ॥३३॥

तपश्चरण की तुल्य विमान मनोहर था अपनाया,
वन को संसार की समान छोडकर था चल आया ।
शिव सन्निभ निर्मल विद्याधर गिरि पर पहुंचा वैसे,
ज्ञान और चारित्र सहित सम्यग्दर्शन होजैसे ॥३४॥

हो भूदेवी का कि हास्य दल वह पर्वत वैसा है,
इस भारत के मध्य भाग में मानदंड जैसा है ।
पूर्वापर लवणाब्धि तटों को छूहे हुये सदासे,
स्वर्ग पहुँचना चाह रहा शिखरो की सुसम्पदा से ॥३५॥

ऊंचा योजन पच्चीस तथा उससे दुगुणा चौड़ा,
भूपर है फिर दश योजन की ऊंचाई पर थोड़ा ।
क्योंकि वहां दश दश योजन की दोनो तरफा कटनी,
हैं विद्याधर लोगो की बसतियां जहां पर कि बनी ॥३६॥

फिर दस योजन ऊंचे पर भी बनी मेखलायें हैं,
जहा व्यन्तरो के आवास हो रहे बतलाये है ।
फिर भी और पांच योजन तक ऊंचा जाकर आवे,
गिरिका प्रान्त दक्षिणोत्तर दश योजन विस्तृत पावे ॥३७॥

निधियों की समान नो शिखरों को है धारण करता,
रत्नो का तो ढेर जहां पर सबके मन को हरता ।
तथा करोड़ों महिषियां जहां पुष्ट पयोधर वाली,
ऐसे सार्वभौम से समधिक विभूति जिसने पाली ॥३८॥

ऊंचा तो है मेरु न मुझसा लम्बा फिर भी ऐसे,
बहते हुए नीर झरनो से हॅसता ही हो जैसे ।
जो गिरि अपनी गहन गुफाओं से है तमको पीता,
निशा समय में भी अखड विधु सदृश दीप्ति की गीता ॥३९॥

विद्याधरावास की श्रेणी द्वय में विद्याधर हैं,
जन्मजात सोपायसिद्ध विद्याओं के भी घर है ।
पुरी इधर की कटनी पर पच्चास उधर दस वेसी,
एक एक नगरी पीछे हैंकोड़ गांव मृदुवेशी ॥४०॥

नव योजन पूर्वापर फिर बारह योजन लम्बाई,
हरेक नगरी की जिसके परकोटा भी है खाई ।
पुरिया छोटे योजन से गिरि किन्तु बड़े से भाई,
प्रलय नहीं होती है जिस पर काल सदा सुखदाई ॥४१॥

प्रतिपुर हजार दर रेखायें मानो नेत्र पुतलियां,
चोपड़ एक हजार और बारह हजार है गलिया ।
गगनस्पर्शी सौध जहां उन्नत सुविशाल खड़े हैं,
देवी देव तुल्य नारी नर सब ही सुभग बड़े हैं ॥४२॥

卐 दोहा 卐

उन नगरों मे अति ललित रथनूपुर है एक ।
दक्षिण कटनी पर वहां पहुँचा वह सविवेक ॥४३॥

और कही उसने वहा खेचरगण को बात ।
तुम लोगों के अधिप हों ये दोनों गुणगात ॥४४॥

आज्ञा है ऋषभेश की ऐसी हुई पुनीत ।
सुरेशादि भी प्रीति से जिसके गावें गीत ॥४५॥

यह नमि हो इस भाग का सम्भालक सुखधाम ।
तथा उधर के भाग का विनमि बने अभिराम ॥४६॥

卐 चौदहवाँ अध्याय समाप्त 卐

卐 पंचदशोऽध्यायः 卐

सुनो हे पाठको ! आगे सुनाता हूँ पुनीत कथा,
हस्तिनापुर नरेश्वर सोम का श्रेयान् सहोदर था ।
एक दिन रात्रि के पश्चिम पहर मे स्वप्न था आया,
कि घर में मेरु पर्वत का प्रवेश पवित्र हो पाया ॥१॥

कल्पतरु सिह बैल समुद्र रवि शशि बिम्ब दृष्टि पडे,
मङ्गल द्रव्य हाथो में लिये व्यन्तर जहां कि खडे ।
स्वप्न यह देख था श्रेयान् सचेत हुआ वहां जब ही,
हर्ष सघर्ष से परिपूर्ण उसकी हुई चित्त मही ॥२॥

उठा आनन्दपूर्वक और अग्रज से मिला तब था,
कहा तब वृत्त देखा जो निशा मे स्वप्न मध्य यथा ।
पुरोहित था वही उसने कहा कि नरेश जी सुनिये,
मेरुसम धीर नर वर का समागम हो यही गुनिये ॥३॥

और भी स्वप्न सब उसके गुणो को ही बताते है,
स्मरण जिस महाशय का हृदय से हम सदा लाते है ।
बात यह थी समाप्त हुई कि आया द्वारपाल वहां,
और बोला कि हे स्वामिन् ! पधारे हैं महेश्वर हां ॥४॥

तभी ऋषभेश की जय हो नाद यह जोर से आया,
कर्णपुट मे कि सबने ही अतुल आनन्द था पाया ।
लिया रणवास को भी साथ में नृप उठा स्वागत को,
द्वार पर था जहां आया कि देखा शुभ समागत को ॥५॥

जिन्हें कि नमोस्तु कहकर कह रहे थे लोग हे भगवन् !
आइये किसलिये आये हमारे यहां हे श्रीमन् ।
लीजिये वस्त्र सुन्दर हैं पहरिये तो जरा इनको,
बोलते क्यो नहीं मुख से याद हैं कर रहे किनको ॥६॥

एक मानव वहा बहुमूल्य मौक्तिक रत्नदल को ला,
भेट है आपकी भगवन् इसे ले लीजिये बोला ।
अन्य बोला स्नान करिये देखिये हूँ सलिल लाया,
आइये ताकि भोजन भी यहां तैयार हो पाया ॥७॥

कर ग्रह कीजिये इसका जरा मत कीजिये देरी,
तीसरे ने कहा भगवन ! कुमारी कन्यका मेरी ।
रह लिये बहुत दिन बन में क्यों न अब तो यहीं रहिये,
दीजिये दास को स्वीकृति देर है क्या झगिति कहिये ॥८॥

भद्रजन बहुत ही अनुनय विनय ऐसा कर रहे थे,
जिसे अनुचित समझ भगवान आगे को बढ़ रहे थे,
न जानें क्यो न सुनते हैं हमारी विनति तीर्थपति,
लगे आ रहे थे पीछे लोग जिनके कि खिन्नमति ॥९॥

किन्तु भगवान तो उनकी तरफ थे देखते न जरा,
दीन सम्पन्न में जिनके चित्त का भिन्नभाव मरा ।
नहीं कुछ चाह मन में थी राह अपनी चल रहे थे,
तनुस्थिति के कि पथ के कंटकों को दलमल रहे थे ॥१०॥

आपकी देह में स्थिर नामवाली प्रकृति समुदित थी,
किन्तु सामान्य लोगों के लिए थे हुए यत्नरथी ।
क्योंकि जिसके बिना कच्छादि जैसे पथभ्रष्ट बने,
अनुद्दिष्टान्न लेने के लिये थे अतः भाव ठने ॥११॥

नहीं था जानता कोई जिसे उन आर्य लोगों में,
लगे थे भाव उनके तो अहो एकान्त भोगों में ।
ताकि है बन रहा अड्डा देह यह भूरि रोगों का,
इसलिये चाहिए होना त्यागमय सत्य योगों का ॥१२॥

बताने को स्वयं प्रस्तुत यहां पर ऋषभ हो पाये,
जो कि चलते गुजरते सोम नृप के द्वार तक आये ।
जहॉ श्रेयान् कुमार उन्हें मोदयुत देख था पाया,
तभी उस भव्यवर को स्वीय जातिस्मरण हो आया ॥१३॥

उसे यह हो गया मालूम मै था श्रीमती युवति,
और यह वज्रजघ नरेश मेरे हृदय के कि पति ।
दिया आहार मुनियों को वहॉ क्या था नहीं हमने,
वही है सुप्रसंग किया उपस्थित यहॉ सुश्रमने ॥१४॥

अहो तीर्थेश जैसा पात्र आया द्वार पर मेरे,
क्यों प्रतिग्रहण मैं न करूं रहूं आलस्य को घेरे ।
नमोऽस्तु नमोऽस्तु हे स्वामिन् ! अन्न जल शुद्ध है भगवन् ।
मन वचन देह भी हैं शुद्ध करुणा कीजिये भगवन् ॥१५॥

इस तरह बोलकर नति की परिक्रमणोचिता मति की,
सदासन था दिया पग धो तथार्चा की जगत्पति की ।
शक्तिभर भक्ति की ऐसे वहां श्रद्धालु उस नरने,
क्षमा सन्तोषयुत हो त्याग में मति की बोध धरने ॥१६॥

ईच्क्षुरस का देया आहार था प्रभु के कर द्वय में,
जो कि था कुशल हो पाया पात्र सत्कार सन्नय में ।
सम्मिलित थे हुए उसमें कि सोमप्रभ बड़े भाई,
रही लक्ष्मीमती नामा साथ जिनके कि भोजाई ॥१७॥

गगन हॅसने लगा उस बार दुन्दुभि नाद के छल से,
हुई रोमाचिता पृथ्वी प्रवर्षित कुसुम दलबल से ।
किया जयनाद देवो ने वहां पर जोर से कि अहो,
धन्य यह पात्र तो फिर धन्य दाता चिरंजीव रहो ॥१८॥

तथा हर्षाश्रुओं जैसे प्रकृति के सुरभि जलकण भी,
गिरे चलने लगा था वायु मन्द सुगधयुक्त तभी ।
हुई यह रीति जिस तिथि मे जगत के लिये शिवताति,
वही अक्षय तृतीया नाम से है आज भी भाती ॥१९॥

उसी वैशाख शुक्ला तीज को आहार दान हुआ,
जहा श्रेयान् तरुण कासहज में दानान्तराय मुआ ।
स्वय भरताधिपति ने सुनी जो मृदु कीर्ति थी फैली,
इस महापुरुष की जिसकी वासना थी नहीं मैली ॥२०॥

अतः झट भरत भी आया तदीय गुणानुरागी हो,
और बोला कि हे श्रेयो आपबहु पुण्य भागी हो ।

आपका नाम हे सुवयस्य जग में सार्थ हो पाया,
आप जैसा महत्व नहीं किसी ने यहा ंअपनाया ॥२१॥

किन्तु यह तोकहो कि अहो तत्व भगवान का कैसे,
मिल गया आपको भू भाग पर निधि निस्व को जैसे ।
सोम का अनुज तब बोला कि पाया रत्न बहु मोला,
महेश्वर के समागम ने हमारा भाग्य है खोला ॥२२॥

पूर्वभव याद हो आया दिया था दान मुनियों को,
उसी से है हुआ यह काम हितकर जो कि गुनियों को ।
गृही जो आय करता है उसे खुद ही यहां न चरे,
अतिथियों के लियेउसका यथोचित सम्विभाग करे ॥२३॥

गृहोचित कार्य में जो दोष सचित है किया जाता,
अतिथिसत्कार से गृहमेधियों का दूर हो पाता ।
पहरने से यहां पर वस्त्र मैला जो कि होता है,
उसे सुनिये महाशय जी सलिलसम्पर्क धोता है ॥२४॥

समुत्पादन न करता हो न जिसके पास ही कुछ हो,
क्योंकि विषयाभिलाषा से होलिया है विमुक्त अहो ।
मनोनिग्रह इन्द्रियों का दमन फिर आत्म चिन्तन ही,
सिर्फ जिसका रहा धन्धा अतिथि सत्तम यहां वह ही ॥२५॥

भोग को रोग समझ लिया गेह से स्नेह जा पाया,
समारम्भ क्रियाओ से अतः मुख मोड़ बतलाया ।
स्वपर का हो भला जिसमें मार्ग वह एक अपनाया,
अतिथि यह दूसरा जिसका चित्त संतोष पर आया ॥२६॥

बाल या वृद्ध या रोगी प्रवासोचित विपद् भोगी,
अतिथि होता बताती है ज्ञानियों की कि है जोगीः ।
स्वयं सत्पात्र होता है अतिथि यदि है विवेक मही,
किन्तु यदि भद्रता से पूर्ण हो तो अप्रशस्त वही ॥२७॥

निरारम्भी पात्र को दान नवधा भक्ति से देना,
समारम्भी अगर हो तो यथोचित नम्र हो लेना ।
छली दम्भी दुरारंभी न कोई पात्र होता है,
अत जो वित्त देता है उसे वह वृथा खोता है ॥२८॥

स्वपर कल्याणकारक वस्तु अपनी जो कि दी जावे,
किसी को भी अनुग्रह भाव से वह दान कहलावे ।
सरल दाता, सरल ही पात्र, हितकर चीज दी जावे,
दान नवकोटि से हो शुद्ध तो फिर बहुत फल पावे ॥२९॥

जो कि दे अन्न भूखे को बने सम्पन्न भूतल में,
रुग्ण को अगद दाता न गद पावे कभी तनुबल में ।
श्रान्त को जो कि दे विश्राम पावे स्वर्ग धाम वही,
दे कि विद्यार्थिको विद्या बने वह विशदबोधमही ॥३०॥

आम घट मे रखा पय नष्ट हो घट ताकि फट जावे,
अपात्रों को दिया धन भी न भूपर काम कुछ आवे ।
अगर बबूल को सींचे शूल तब पैर मे चुभती,
ईख सिंचाक की जिह्वा बने झट मधुर मोदवती ॥३१॥

पात्र को स्वल्प भी देता भक्ति से वह सुयश लेता,
यहां परलोक में स्वर्गादि सुख का बने अध्येता ।

पात्रहोता भवोदधि से पोत सम तारने वाला,
सुदर्शन बोध चारित्रादिमणिगण धारने वाला ॥३२॥

मोहधर लोह यान समान जो भी हो न वह तारे,
भवाम्बुधि से देह धर को सुनो हे नर वर हमारे ।
किन्तु है हेम अश्म समान जिनके मित्र असुघाती,
चाव चिद्भाव पर जिनका चीज पर और दिखलाती ॥३३॥

इसलिये यथाजात हुए ज्ञान सम्पादनार्थ यहां,
असु स्थिति हेतु लें देखें अनुदृिष्टान्न शुद्ध जहां ।
पुष्टि पर दृष्टि जातु नहीं सरस हो तथा नीरस ही,
ग्रास दो चार लेते हैं गृद्धि रखते न किन्तु कहीं ॥३४॥

दिया उन साधुओ के हाथ में जो अन्न जाता है,
गृहस्थों के लिए वह ही महाफल का प्रदाता है ।
देखते हो हुई आनन्द दायक रत्नवृष्टि जहां,
यत्न करना नहीं क्यों चाहिए उसके लिए फिर हां ॥३५॥

रोज मध्याह्न बेला मे अशन तैयार जब हो ले ,
द्वार पर खड़ा हो घर के अतिथि सम्भावना को ले ।
समागम साधु का हो तो करे तर्पण सविधि उसका,
तत· शेषान्न के द्वारा चित्त जिसका कि खूब छका ॥३६॥

नहीं तो मध्यमातिथि को जिमाकर जीमने वाला,
गृही होता यहां पर है नरेश्वर ! सुकृत की शाला ।
ऋषभ का तीर्थ पात्रो का समुत्पादक झगिति होवे,
ताकि जनता उन्हें पाकर चित्तगत मैल को धोवे ॥३७॥

卐 दोहा 卐

ऐसे कह निज पूर्वभव कहने का उपयोग ।
किया ताकि थे खुश हुए सुनने वाले लोग ॥३८॥

भरतराज ने था किया बहुत बड़ा सम्मान ।
उत्तम दान सुतीर्थ का कर्ता उसको जान ॥३९॥

卐 पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त 卐

卐 अथ शोडषाध्यायः 卐

ऋषभदेव भगवान गये फिर तप करने को,
श्री बलायुरारोग्यतया निज अघ हरने को ।
भव्यों के मन मन्दिर मे प्रबोध भरने को,
और सभी कुछ छोड़ डटे निर्वृति वरने को ॥१॥

माता जिनकी दया पिता थे सत्य सुहाये,
भ्राता धैर्य परापयोग ही भृत्य कहाये ।
ब्रह्मवृत्ति सहचरी सदा के लिए थी बनी,
आकिञ्चन अटूट वित्त के थे रहे धनी ॥२॥

पंच महाव्रत पालन में तत्पर हुए बड़े,
पंचपरावर्तन संहरने के लिए अड़े ।
पंचेन्द्रिय निग्रह करने में चित्त लगाया,
पंचाचार परायण हो आलस्य हटाया ॥३॥

कभी कहीं तो कभी कहीं यों क्रम अपनाया,
एक स्थान न साधु रहे यह कर बतलाया ।
कभी वृक्ष की कोटर में जा ध्यान लगाया,
नदी पुलिन फिर कभी कभी गिरि शिखर सुहाया ॥४॥

आज अन्न तो कलपरत्र जाकर रहते थे,
निर्जन्तुक एकान्त जगह आसन गहते थे।
सूर्यास्तमन काल में निश्चल हो जाते थे,
सूर्योदय होने पर ही फिर चल पाते थे ॥५॥

एक देश से देशान्तर पर ते जा पाये,
त्याग तपस्या के आदर्श खूब दिखलाये ।
ऐसे एक हजार वर्ष ऋषभ ने बिताये,
चलते फिरते पुरिमतालपर थे फिर आये ॥६॥

जिसे इलाहाबाद आज बोला जाता है,
जहां कि अक्षय वट पादप मन को भाता है ।
आकर वहां ऋषभ जिनने था ध्यान लगाया,
इतर दिनों से आज अतुल उत्साह जगाया ॥७॥

आध्यात्मिक था ऋषभ ने प्रथम यज्ञ रचाया,
प्रयाग उसका नाम अतः तब से हो पाया ।
भक्ति भाव से आज कि जिसका यश गाते हैं,
तीर्थ समझाकर भव्य लोग जाते आते है ॥८॥

कायोत्सर्गतया प्रमाद को दूर भगाया,
वर्द्धमान लेश्या विशुद्धि को था अपनाया ।

आर्त रौद्र परिणाम रहित था धर्म सुहाया,
चित्त अपूर्व करण के लिए जहा उमगाया ॥९॥

अपहृत सयम का अंगरखा पहिन बताया,
परमोपेक्षा सयम का था टोप बनाया ।
मोह सुभट को मार गिराने का विचार था,
किया चित्तनिग्रह को बलपति देव ने तथा ॥१०॥

आत्मोपयोग रुप खड्ग को था अपनाया,
धैर्यादिक सैनिक दल को साथ में लगाया ।
किया आक्रमण जहां शत्रु की सेना पर था,
काप उठी वह पंक्ति मृगों की सिंह से यथा ॥११॥

बदल लिया रुप ही किसी ने था झट अपना,
कोई था बेहोश हुआ ऐसा ढंग बना ।
इत्यादिक खलबली मची पर सेना दल में,
जहां ध्यान का तेग लिया प्रभु ने करतल में ॥१२॥

प्रत्याख्याना प्रत्याख्यान नाम के धारी,
पहिले ही बार मे मर लिये थे अघकारी ।
आठ सुभट मोह के चोट जब कस कर दी थी,
जिनवर जी ने अपनेपन की मृदु सुध ली थी ॥१३॥

तीन वेद ईषत्कषाय छह को भी मारा,
फिर संज्वलन प्रकोप का था शीश उतारा ।
घमण्ड और कपट को भी था चूर बगाया,
लोभ नाम योद्धा भी अति दुर्बल हो पाया ॥१४॥

अनिवृतिकरण नाम की जयभूयों तय की थी,
परमोत्साह सहित आगे को फिर गति ली थी।
लोभ नाम भट जो कि मोह का रह पाया था,
उसका भी तब शीघ्र अन्त कर दिखलाया था ॥१५॥

क्षीणाकषाय सरोवर पर फिर जिन जा पाये,
तब एकत्ववितर्क नीर मे वहा नहाये ।
उससे अपने रजो विध्न मल दूर थे किये,
ऐसे केवल' बोध सहित वृषभेश हो लिये ॥१६॥

फाल्गुन कृष्ण पक्ष की एकादशी सही थी,
जो कि उत्तराषाढ नाम नक्षात्र मही थी ।
क्षायिक नव लब्धिया आदि जिनवरने पाई,
जिस दिन मुक्तिरमा के सम्प्रयोग की साई ॥१७॥

निर्वातस्तम्भित जल जैसा हो तलाब का,
क्षोभरहित था ज्ञान हो गया ऋषभराव का ।
दुनिया की सब चीजें उसमे दीखने लगी,
एक साथ अतएव सकल बाधा दूर भगी ॥१८॥

राग मिटाकर वीतराग जब जिन हो पाये,
तभी देह मे भी उनके ऐसे गुण आये ।
परमौदारिक रुपतया परिणमन सुहाया,
ढाई कोश समुन्नत नभ मे था जा पाया ॥१९॥

घण्टानादादिक से जाना हरिकी मतिने,
अहो घाति कर्मो को मिटा दिया जिनपतिने ।

अत बुलाकर धनपति को उसने समझाया,
समवसरण रचना करने को तब वह आया ॥२०॥

भूपर आकर पाच हजार धनुषमित ऊचा,
स्थण्डिल बारह योजन विस्तृत वृत्त समूचा ।
इन्द्रनील मणिमय किया कि जो भव्यतम तथा,
बीस हजार रत्नमय सोपानो से युक्त था ॥२१॥

उस पर उन्नत धूलिशाल था आदि में रचा,
चम चम करती पच रत्नमय धूलिसे खचा ।
चार तरफ मे हेम थम्भमय जिसके दर थे,
आयत मौक्तिक दाम महा सुन्दर जिन पर थे ॥२२॥

शालत्रय के मध्य पीठिका पर जो कि बने,
मूलभाग मे जिनवर बिम्ब जहा सुहावने ।
दो दो कुण्डो सहित वापिकाये जलवाली,
जिनके चारो ओर छटा जिनकी कि निराली ॥२३॥

जिससे आगे भीतर मानस्तम्भ भले थे,
घमण्डियो के घमण्ड जिनको देख गले थे।
उससे कुछ भीतर जाकर थी गहरी खाई,
मानो सेवा करने को गगा ही आई ॥२४॥

जिसके तट पर सुभग लता वन था रुचिकारी,
कोमल पल्लव और जहां नाना फुलवारी ।
फिर आगे कलधौत घटित परकोटा आया,
था द्वारों पर वसु मङ्गलमय ठाठ सुहाया ॥२५॥

धूप घटद्वय से जहा कि धूवां चलती थी,
दर्शक लोगो के पातक की स्थिति जलती थी ।
नो निधिया भी यहा विलखती हुई पड़ी थी,
क्यों प्रभु ने तज दी हमको ऐसे कि अड़ी थी ॥२६॥

मणि निर्मिततोरण जिसके थे बड़े सजीले,
नयन देखने वालो के जाते थे कीले ।
दरवाजो मे दोनो तरफा सदन थे बने,
नृत्य गान देविया जहा करती सुहावने ॥२७॥

परकोटे से आगे समतल जो कि बना था,
चारो तरफा चार वनों से सघन घना था ।
अशोक सचम्पक आम्र और सप्तच्छद ऐसे,
तरुओ की छाया क्रम से थी वह उनमें से ॥२८॥

अशोक वन में अशोक नामक चैत्यतरु महा ।
जिसकी चारो ओर मूल मे जिन बिम्ब रहा,
सिंहासन चमरादिका जहा ठाठ लगा था,
जिसके सम्मुख दर्शक का झुक जाता माथा ॥२९॥

इसी तरह से चम्पकादिको के भी वन में,
एक एक था चैत्यवृक्ष जिसको कि जन नमें ।
वन चतुष्क की अन्त. सीमा पर थी वेदी,
जिसके आगे समतल में हे जिनगुणवेदिन् ॥३०॥

हसादिक दस भाति की ध्वजायें जहां रही,
अष्टोत्तर शत एक तरह की थी गई कही ।
एक सहस्त्र अशीति एक रुख की यों सारी,
चार हजार तीन सौ बीस महा रुचिकारी ॥३१॥

उसके आगे कोट दूसरा रजत रुप था,
पूर्व कोट की तरह हुई उसकी और कथा ।
फिर था समतल जहां स्तूप नो नो प्रतिदिश मे,
जिन पर थे प्रतिबिम्बरहे ऐसा याद हमे ॥३२॥

और अनेक मकान मनोहर बनाये गये,
नाना रत्न सुवर्ण सघटित थे नये नये ।
फिर वेदी होकर समतल था जहा लगे थे,
सुरतरु जिनसे आर्यगणो के दु.ख भगे थे ॥३३॥

इस वनमें सिद्धार्थ नाम तरु एक एक था,
जहां मूल मे सिद्धो के बिबकी सकथा ।
फिर आगे था कोट एक जो स्फटिक का बना,
श्री जिनवर के यश पुञ्ज सम बहु सुहावना ॥३४॥

इसके भी द्वारों पर वैभव वैसा ही था,
देख जिसे लोगों का खुश हो जाता जी था।
व्यन्तर भावन वैमानिक देवों का पहरा,
तीनों कोटो पर था क्रम से संगुण गहरा ॥३५॥

स्फटिक कोट भीतर बारह कोठे हो पाये,
सोलह दीवालों से जहा भव्यजन आये ।

योजनमित मध्य मे पीठ शुभ बना हुआ था,
उसकी भी अब थोडी सी सुन लो गुणगाथा ॥३६॥

धर्मचक्र को सिर पर धर कर थे जहां खडे,
यक्षदेव मङ्गलद्रव्य भी थे वहा ग ।
उस पर भी फिर पीठ दूसरी बनी हुई थी,
आठ तरह की ध्वजाये जहा धरी हुई थी ॥ ३७॥

फिर उस पर भी पीठ तीसरी थी रची गई,
जिस पर गध कुटी प्रभुजी के लिए की ग ।
छह सौ धनुष समुन्नत उतनी ही विस्तृत थी,
जिस पर सिहासन मनोज्ञ फिर कमल सुसुरभि ॥३८॥

उस पर चतुरङ्गुल ऊंचे थे ऋषभ विराजे,
छत्र तीन उनके सिर पर थे शोभित ताजे ।
वृक्ष अशोक पीठ पीछे शोभा पाता था,
जिसे देख दर्शक का शोक हट जाता था ॥३९॥

चन्द्रकिरण सम चमर जहां अनन्त ढुरते थे,
मानो मुक्तिरमा के कटाक्ष ही गिरते थे।
नभ मे देवो ने दुन्दुभिका नाद किया था,
क्योकि मोह भट को प्रभु ने झट जीत लिया था ॥४०॥

व्यर्थ समझ फिर अपने शर जो फेक रहा था,
स्मर, लोगो ने कुसुमवृष्टि भी उसे कहा था।
प्रभु के भामण्डलसे विधु रवि शरमाते थे,
जहां भव्यगण आत्म भवान्तर लख पाते थे ॥४१॥

चातक जैसे लोग पियासे जो आते थे,
उनके लिए स्वयं धर्मामृत बरसाते थे।
मेघसमान निरीह ऋषभ जग के हितकर्ता,
नहीं किसी से स्नेह किंच रोष के प्रहर्ता ॥४२॥

मार्ग सभी के लिए सत्य का दिखलाते थे,
जो कोई सदेश वहा सुनने आते थे।
मुनि, सुराङ्गना, आर्यिकादिक स्त्री सभी यथा,
ज्योतिदेवी, व्यन्तरी, भवनवासिनी तथा ॥४३॥

भावनसुर, किन्नरादि थे ज्योतिष्क देव भी,
वैमानिक सुर, मानव, पशु ऐसे रहे सभी।
सब लोगो ने मज्जन जिसमे कर पाया था,
सर्वोदय तीर्थ प्रभु का वह कहलाया था ॥४४॥

卐 दोहा 卐

ऋषभदेव की देशना पहिली जो कि विशाल।
उसे भूवलय ने दिया गीता नाम रसाल ॥४५॥

अट्ठविह कम्म वियला णिट्ठियकज्जा पणट्ठससारा।
दिट्ठ सयलत्थसारा सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु ॥४६॥

इसी रूप से था हुआ शुरु धर्म उपदेश।
जो कि रहा जग के लिए कल्याणकर विशेष ॥४७॥

卐 सोलहवाँ अध्याय समाप्त 卐

卐 सप्तदशोध्याय: 卐

ऋषभजिन केवल ज्ञानी हुए यह बात जब जानी,
देवता लोग थे आये पूजने को निरभिमानी ।
भरत भी था वहा आया और बोला कि हे स्वामिन्,
तत्त्व बतलाइये जिससे बने हम सुपथ के हामी ॥१॥

बोलने थे लगे तब यों ऋषभ जिनराज सद्वक्ता,
न होता नाश है जिसका न होता हो नहीं सकता ।
तत्व सद्रूपहै जग में व्योत्पत्ति ध्रौव्यवाला,
अचेतन और चेतन भी प्रतिक्षण परिणमनमाला ॥२॥

ध्रौव्य गुण और पर्यय नाम वालो का समुच्चय है,
इसलिये द्रव्य कहलाकर वह सदा वर्तमान रहे ।
जीव जड़ से समन्वित और खालिश हो रहे फिर है,
जिन्हे भवयुक्त मुक्त तथा इस तरह विज्ञ लोग कहें ॥३॥

जो कि जड है न चेतन युक्त वह पुद्गल कहाता है,
तथा चेतन समन्वित हो कर्म वह नाम पाता है।
परस्पर मे मिले पुद्गल हैं कि जो स्कन्ध कहलाते,
बिछुर कर जो रहे जग मे नाम परमाणु वे पाते ॥४॥

धर्म एव अधर्म तथा काल आकाश नामक भी,
द्रव्य ये भी अचेतन है किन्तु रूपादि शून्य सभी ।
गमन मे जो सहायक हो उसे ही धर्म कहते हैं,
अधर्मद्रव्य की करतूत से हम ठहर रहते है ॥५॥

काल की चाल ही नव जीर्ण करने को समर्थ यहां,
नहीं आकाश यदि होता जगह पाते कहो कि कहां ।
द्रव्य छह कहे इनमें धर्म और अधर्म नभ ये तो,
यहा एकैक ही हैं जान लो तुम हे सुगुण के तो ॥६॥

सकर्मा जीव नर, पशु, देव, नारक देह धरता है,
क्योंकि इन बाह्य चीजों में व्यर्थ ही मोह करता है।
अत· हिंसा मृषा चोरी और दुःशील मे ंरत हो,
दु·ख है भोगता परके लिए दुःखप्रकारक हो ॥७॥

अत इनसे विरक्ति प्राप्त करना ही सुखप्रद है,
ताकि निष्परिग्रह होकर मनुज निर्द्वन्द्व भाव गहे ।
सफलता के लिए इनकी समितिया प्राप्त कर लेना,
चाहिये देहधारी को प्रमाद न जातु कर देना ॥८॥

सूर्य के उदय होने पर गमन करना न सूर्य बिना,
तथा नव मार्ग से चलना न यति के लिए शस्त गिना ।
बोलना भी किसी से तो श्रुति सुखद ढंग से कहना,
सुहित कर वाक्य ही परथा चाहिये मौन ही गहना ॥९॥

तनुस्थिति के लिए आहार दिन में एक बार करे,
अयाचित शुद्ध भी करमें गृही जो भक्तियुक्त धरे ।
धरे अथवा उठावे जो बिना देखे नहीं कुछ भी,
अजन्तुक भूमि पर छोड़े स्वीय मलमूत्र आदि सभी ॥१०॥

क्रोध फिर लोभ या डरपोक पन के वश नहीं होवे,
हंसी ठट्ठा किसी से भी न करने में समय खोवे ।

समर्थित मार्ग के अनुकूल ही बोले कि जब बोले,
सत्य का पक्षपाती नर न वरथा कभी मुंह खोले ॥११॥

रहे तरु कोटरादिक मे तता परिमुक्त देशों में,
न बाधक हो कहीं कुछ भी इतर सब सन्निवेशों में ।
न झगड़ा भी करे कोई सधर्मि महानुभावो से,
शुद्ध भिक्षाभियोगी हो दूर जो चौर्यदावों से ॥१२॥

युवति के पास में न रहे न उसके रुप पर रीझे,
न पौष्टिक चीज ही खावे इस तरह शील में सीझे ।
स्मरोद्दीपक कथाओं से व्यथाओ से सदैव डरे,
दूर श्रृङ्गार बाजी से रहे वह भव समुद्र तरे ॥१३॥

स्पर्शनादीन्द्रियो के इष्ट और अनिष्ट विषयों में,
राग या द्वेष को छोडे न अपने चित्त को होमे ।
रहे बेलाग वैसे ही कि जैसे बह रहा वायु,
यति यहा भूमि पर जब तक कि अपना साथ दे आयु ॥१४॥

प्रकृति ने जो दिया है रुप उसको क्यो ढके प्राणी,
वश रखे चित्त अपने को सरल बोले सदा वाणी ।
लिया अवतार घरणी पर उसी की गोद में सोना ।
खाट इत्यादि के वश हो वृथा क्यो सकुचित होना ॥१५॥

अखण्ड ब्रह्मसागर मे मग्न होकर सुशुचि होना,
जहां पर किसलिये फिर हो नहाना और मुंह धोना ।
केश संवृद्धि मे यूकादि का सम्पर्क हो पावे,
क्षौर के भी लिए किसको कहे यों विवश हो जावे ॥१६॥

अतः दो चार महिनों में स्वयं कचलोंच कर लेना,
काय सक्लेश पर न वहाँ जरा भी ध्यान को देना।
किन्तु सुख दुःख जीवन मरण में समभाव होलेना,
इसी उपयोग के द्वारा नष्ट हो कर्म की सेना ॥१७॥

करे गुणगान समता का, वहां जो अग्रणी होवे,
उसे मस्तक झुकाने से चित्त सारी व्यथा खोवे।
बुजुर्गों का कहा माने अगर कुछ भूल हो जावे,
ठीक करले उसे झट ताकि वह आगे न रह पावे ॥१८॥

देह यह कष्ट का घर है इसे दिल बीच धर लेवे,
नहीं इसके भरोसे पर भलाई को भुला देवे।
सफलता इम मनुज तनुकी त्यागमय सत्तपस्या से,
ताकि चेतन उऋण हो ने भवान्तर की समस्यासे ॥१९॥

भोग संयोग से सुर लोग आदिक सब गुजरते हैं,
पशु तथा नारकी होकर निरन्तर दु ख भरते हैं
मनुज भव धारकर सुविवेक युत जो त्याग करतेहै
क्षार संसार सागर से पार वे ही उतरते हैं ॥२०॥

हुआ श्रमण प्रथम तबही सुनी ऐसी सुधर्म कथा,
पुरिमतालाधिनायक जो वृषभ सेनाख्य नर वर था।
तज दिया राज्यपाट सभी पलक भर मे ज्योंकि तिनका,
गणाधिप भी हुआ आदिम वही था श्री ऋषभजिन का ॥२१॥

हुए सोमप्रभादिक थे तिरासी और गणधर भी,
मुनि हुए सहस चौरासी महाव्रतधर मनुष्य सभी।

भ्रष्ट मुनि कच्छ आदिक भी सुलटकर ठीक मार्ग लगे,
सिर्फ मारीच के कुविचार उसके चित्त से न भगे ॥२२॥

कुमारी जो कि थी ब्राह्मी सुन्दरी वा वृषभ जिनकी,
हुई थीआर्यिकाओं में अग्रणी मदन से घिन की।
पास जिनके परिग्रह एक साड़ी के सिवाय नहीं,
आर्यिकायें वहां सारी सार्द्ध थी तीन लाख रहीं ॥२३॥

तथा श्रुतकीर्ति आदिक ने लिया थ ादेश संयम को,
जो कि थे तीन लाख हुए सफल पाया परिश्रम को ।
श्राविकाएं हुई थी पाच लाख पवित्र गुणवाली,
श्री प्रियव्रता ने उनमें स्पष्टत. मुख्यता पा ली ॥२४॥

न जंगम जन्तु का संहारतनु मन वाक्य से करना,
वंचनामय बुरे बर्ताव से तो सहज में डरना ।
किसी के भी लिए जो हानिकर हो वह नहीं कहना,
अकामुकरूप से जग में स्वयं निष्णात हो रहना ॥२५॥

अशन वसनादि से परिशिष्ट चीजों को नहीं गहना,
अणुव्रतवान होकर यों श्रावकों को कहा रहना ।
ऋषभ अम्भोद ने ऐसे धर्ममय अमृत बरसाया,
ताकि इस देश भारतका अंग प्रत्यंग सरसाया ॥२६॥

हमे फिर भिन्न भिन्न हुए दीखते देश जो अब हैं,
उस समय कीपरिस्थिति में एक भारतवर्ष सब हैं,
औ इन सभी देशों में विहार किया महेश्वर ने,
दिया संदेश शुभ जिससे भव्यजन मुक्तिकान्त बने ॥२७॥

गगन में गमन करते थे जलद की तुल्य तीर्थपति,
किसी के भी लिए बाधक न जिनकी रही स्पष्टगति ।
जहाँ प्रभु पैर रखते थ`कमल रचते सुरेश वहाँ,
दिशा आकाश होरहता स्वच्छ दर्पण समान वहाँ ॥२८॥

जहा जाते अगाड़ी धर्म चक्र वहां चला करता,
मंगलद्रव्य लेकर देवियों का वैभव गुजरता ।
वायु सुग मन्द और सुगन्ध सुन्दर पवन करते थे,
ताकि कण्टक वगैरह भूमि पर के स्वयं हरते थे ॥२९॥

मधुर सी वारिकण वर्षा सभी का चित्त था हरषा,
विड़ाल कपोत पर भी स्नेह करता था स्व परिकरसा ।
सर्वकालीन फल पुष्पादि का सद्भाव गुण गहता,
इधर से उधर दो सौ कोस में कि सुभिक्ष था रहता ॥३०॥

किसी भी तरह का कुछ भी रहा न वहां उपद्रव था,
न तनुकी रही परछाई हुए अनिमेष नेत्र तथा
अतुल बल हो लियाआहार भी फिर किसलिए करते,
दीखतासब तरफ मुंह था केश नख थे न परिसरते ॥३१॥

जहां उपदेश देते भव्यजीवों को जिसने यथा,
दूर फैला रहा मागध सुरों का उसे परिकर था ।
ऋषभ के सभास्थल की पापहरणी हुई यह सुकथा,
सकल विद्येश की जय हो इस तरह गूंजता नभ था ॥३२॥

卐 दोहा 卐

देश देश में घूमकर वृष का किया प्रकाश ।
ऋषभ देव भगवान ने जैसे सूर्य सुभास ॥३३॥

घूमघाम कर आ लिये ऋषभ देव गुणराम ।
उस पहाड़ पर थे जिसे कहते हैं कैलाश ॥३४॥

दिवस अमावस से प्रथम माघ मासका जान ।
वहां देह को छोड़कर अतनु हुए भगवान ॥३५॥

कहते हैं शिव चौद सी अतः आज तक लोग ।
क्योंकि हुआ आदीश का मुक्ति श्री से योग ॥३६॥

समयसुभग पूर्वाह्णका ऋक्ष उत्तराषाढ ।
ऋषभ अमरपन को लिए बने परम अवगाढ ॥३७॥

सभी साधुओं ने किया उस दिन था उपवास ।
किया निशा में जागरण शिव के लिए धृताश ॥३८॥

वह इस धूतल पर सुखदाई इसीलिए शिवरात्रि कहाई ।
आदि देव जो थे जिन सांई उनने शिव संज्ञा अब पाई ॥३९॥

छन्तर अंक मिताब्द हैं हुए ऋषभ को आज ।
ऐसा कहता है हमें ऐतिहासिकसमाज ॥४०॥

वृद्ध लोग हैं मानते सम्वत संख्यातीत ।
सार्द्धशताङ्क प्रमित तो संख्यात ही प्रतीत ॥४१॥

ऋषभ हुए अशरण शरण आदितीर्थ करतार ।
हम सब लोगों के लिए भुक्ति मुक्ति दातार ॥४२॥

सम्यग्दर्शन बोद वृत्तमय सत्त्रिशूल से,
रागरोष मोहाख्य राक्षस त्रय थे विनसे ।
ऋषभ देव के त्रिपुरान्तक वे अत कहाये,
जिनके आगे इन्द्रादिक ने शीश झुकाये ॥४३॥
ज्ञान गगन सेस्वसम्वित्ति गगा जो प्रगटी,
पहिले तो मस्तिष्क में रही वह सत्यतटी ।
फिर फैली जो त्रिपथगामिनी वचनद्वारा,
वृषभाधिप शकर की जिसने जग को तारा ॥४४॥
जब कैलाश शिखर पर आकर योग निरोधा,
ऋषभ ने कि भरत को हुआ था स्वप्न सुबोधा
सुमेरु गिरि जो इस भूतल का अभिभूषण था,
चला गया स्वर्ग को न जिसमें कुछ दूषण था ॥४५॥
इसी तरह से अर्ककीर्तिको था दीख पडा,
जो आया था भूतल पर औषधि पेड़ बड़ा ।
जिसने हम सबको देखो नीरोग बनाया,
गया स्वर्ग को रही नही अब उसकी छाया ॥४६॥
प्रधान ने देखा कि रत्नमण्डल भूपर था,
धीरे धीरे मिट गया रहा वहनहीं तथा ।
सेनापति को हुआ स्वप्न जो सिंह एक था,
तोड़ पींजड़े को दोड गया रहा न इह था ॥४७॥
किन्तु सुभद्रा ने देखा कि शची यशस्वती,
और सुनन्दा ये तीनों ही हैं शोकवती ।

पौष मास की पूर्णिमा यहा हो पाई थी,
जब लोगों के दिल को यह चर्चा भाई थी ॥४८॥

पूछा गया पुरोहित को जब इसका फल था,
मालूम हुआ ऋषभ देव का जो सम्बल था ।
वह अब हमसे स्वयं दूर है होने वाला,
याद रहेगी हमें सिर्फ उसकी गुणमाला ॥४९॥

इतने में बोला कोई भी आकर नर था,
अष्टापद पर देव आ रहे मौन है तथा ।
श्रोतागण सब हाथ जोडकर खड़े है जहां,
क्या मालूम कि ऐसा क्यों है हो रहा वहां ॥५०॥

भरत भूप ने निजपरिकर को साथ मे लिया,
जगन्नाथ की वन्दना के लिए कूच था किया ।
और भी सभी सुर तथा असुर आ जमे वहां,
चौदह दिन तक ऋषभ मौन मे थे रहे जहा ॥५१॥

फिर हो गये अदृश्य महाशय हम लोगो के,
जो कि साधु थे हुए विमुख होकर भोगो के ।
रहा नहीं अब उनका यह भौतिक शरीर था,
बची हमारे लिए रही उनकी मंजु कथा ॥५२॥

अथ करबद्धसभी होपाये, सबने अपने शीश झुकाये ।
मिलकर गुणानुवाद किया था,पुनः पुनः प्रभु नाम लिया था ॥५३॥

जय जय जय शिव शंकर शम्भो,सर्व हितंकर सदा स्वयम्भो ।
पुराराति भव भीम पिना की इडा गिरा गौरीपति नाकी ॥५४॥

महारुद्र हरिहरहर्ता तूं, त्रिनयन शूलपाणि भर्ता तूं ।
मित्र वरुण भग सविता पूषा, अंशू अर्यमा जगद्विभूषा ॥५५॥

इन्धनदाहक मृत्युंजय तूं, विषहर भवहर भव्य विनय तूं ।
वृक्षैरिवा अघशोषक तूं, भवोच्छेद कर अपशोषक तूं ॥५६॥

श्येन गरुत्मान् गणसुपर्ण तूं,तमोऽतीत आदित्यवर्ण तूं ।
शर्व उग्र भैरव सम्वर तूं, अंहोमुक् सत्तम जिनवर तूं ।।५७॥

काल मृत्यु यम अन्तक अत्ता, तू है तुझमें असुर महत्ता ।
इन्द्र शक्र शुचि पावन अघहा, वैश्वानर हिरण्यगर्भ अहा ॥५८॥

पुरुषोत्तम नारायण नर तूं, जागरुक असुरीश असुर तूं ।
ऋषभ वृषभ नन्दीश अनड्वान्, पशुपति गोपति गौर गौडवा ॥५९॥

होमवह्नि हवि अध्वर होता, मख ऋत्विज् यज्वा गुणगोता ।
द्रुतगति बाजी अश्वनामतूं,रुद्र कपर्दी शर्मधाम तूं ॥६०॥

धर्म सत्य ऋत महाव्रात्यतूं, रत्नधा कवि क्रतु अमात्य तूं ।
अदिति पुरूर्वसु सखा विधाता, विश्वबंधु तूं त्रिजगत्राता ॥६१॥

त्वष्टा द्रविणोदा ऋभु रवि वा,तेरी गीति कररही कविवाक् ।
ॐ परमेष्टी प्रणव पिता तूं श्रेष्ट ज्येष्ट प्रव्रजिता तूं ॥६२॥

यह्व जोहवा महादेव तूं, अहुरमजद देवाधिदेव तू।
इडय इला इल अल्ला च खुदा, मनु स्वयम्भू नाम तव मुदा ॥६३.

ब्रह्मा विष्णु महेश विवस्वान्, ईशानेश भूतपति यद्वा ।
तीर्थ निषद्वर यत्न पुरुष तूं, मेध्य पुरुष वा स्तुत्य पुरुष तूं ॥६४॥

दक्ष यक्षपति औषधिपति तूं, वैद्यनाथ आजीवन मति तूं ।
अपानापाच्च अपांनेता तूं, आयुर्युध स्मरविजेता तूं ॥६५॥

वाक्पति वाचस्पति एकर्षि,कूटस्थ ध्रुव च सकलदर्शी ।
सर्वकाम तूं आप्तकाम तूं, शुद्ध बुद्ध समसिद्धिधाम तूं ॥६६॥

सहस्त्रशीर्षा सहस्त्रपद तूं, आप्त सहस्त्राक्ष विगतमद तूं ।
आप्त त्रित तारक तारण तूं, भव्यों कासंकट वारण तूं ॥६७॥

वन्द्य नमस्य पतितपावन तूं, अन्तःकरण मल हटावन तूं ।
अच्युत अव्यय अक्षरपद तूं, अजर अमर अज च अमृतनद तूं ॥६८॥

भववारिधि के लिए पोत तूं, कहा गया शांति का स्त्रोत तूं ।
अचल विश्वकर्मा प्रजापति, अलख अनन्त किला द्वैतमति ॥६९॥

अग्रि अग्नि तू जातवेद तूं,रुक्मनाभि अथवा अखेद तूं ।
अर्हन् परम पुराण पुरुष तूं, आदिनाथ नीराग अरुष तूं ॥७०॥

मुक्त विमल अस्पष्ट अलग तूं, सिद्ध साध्यसर्वदा सजग तूं ।
गिरिपति भूतनाथ भवपति तू, लोकेश्वर भूतार्थ नियति तू ॥७१॥

जटिल दिगम्बर तथात्मंभरि, गंगाधर केशी च केशरी ।
आदम अगर प्रथम पुरुष भी, तुम्हें समझते अहो हम सभी ॥७२॥

卐 दोहा 卐

लिङ्गनाम से बोलते हैं तिब्बत के लोग ।
स्थान को कि शिवलिङ्ग यूं कैलाशाद्रि नियोग ॥७३॥
पूज्य समझ कैलाश को वहां जिन भवन सार ।
बनवाये भरतेशने भक्ति भाव उरधार ॥७४॥
ऋषभदेव भगवान काचरित सकल सुखाकर ।
भूरामल ने है लिखा अपनी मति अनुसार ॥७५॥
मदनगंज के जैन जन हुए प्रेरणाकार ।
मुझ जैसे मतिमंद का ताकि हुआ सुविचार ॥७६॥
भूल चूक को शोधकर पढ़े पढ़ावें विज्ञ ।
छंदोलंकारादि में मुझे जान अनभिज्ञ ॥७७॥
मिलजुलकर सब जन रहें यथा एक परिवार ।
याद रखें वृषभेश को यही ग्रथका सार ॥७८॥

❀ ❀ ❀

卐 ग्रन्थ कर्ता की कामना 卐

भूपर सदा सुभिक्ष हो न हो रोग या सोग ।
राजा धर्मधुरीण हो, सुखी रहें सब लोग ॥१॥

मनमें श्री भगवान को स्मरण करें दिन रात ।
लक्ष्य एक समभाव का बना रहे अवदात ॥२॥

कायर [illegible] हढाध्यवसायी सब बन्धु ।
बनें [illegible] कि यह [illegible] नो कि घोर जगदन्धु ॥३॥

नाना जन नाना भजन जिसको जो रुच जाय ।
याद एक उसकी भली जहा न भोग सुहाय ॥४॥

हुनर अनेकानेक हैं किन्तु हुनर वह ठीक ।
वार्ता जहॉ मनुष्य की होवे नही अलीक ॥५॥

काम कोप मद मोह पर जय पावे अभिगम ।
व्यर्थ न खोवे जन्मको भजें वीर का नाम ॥६॥